जय-दोल

'अज्ञेय'



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 63

पहला संस्करण · 1950
छठा संस्करण . 1987

जय-दोल
(कहानियाँ)

'अज्ञेय'

मूल्य : 20.00

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इंस्टीट्यूशनल एरिया,
लोदी रोड, नयी दिल्ली-110003

मुद्रक
पारस प्रिंटर्स
द्वारा पारुल प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

JAYA-DOLA (Stories) by 'Ajneya'. Published by Bharatiya Jnanpith 18, Institutional Area, Lodi Road. New Delhi-110003 Printed at Paras Printers by Parul Printers, Naveen Shahadra, Delhi-110032 Sixth Edition : 1987. Rs 20/-

भूमिका

प्रस्तुत संग्रह की कई कहानियाँ बिलकुल नयी है; कुछ पहले पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुकी है और एक कहानी पहले संग्रह मे आ चुकी है। उसे यहाँ संकलित करने का कारण यह है कि अब वह पहले संग्रह से निकाल दी जायेगी। इस कहानी का नाम बदल दिया गया है, अब जो नाम है यही आरम्भ मे रखा गया था और उपयुक्त भी है किन्तु अँगरेजी से बचने के लिए छोड़ दिया गया था।

कहानियो के बारे मे लेखक का वक्तव्य क्या हो सकता है ? उपन्यास के बारे मे तो फिर भी कुछ कहने की गुंजाइश होती है, क्यो कि उस मे जीवन का एक दर्शन होता है। कहानियो के सत्य मे उतनी व्याप्ति नही होती, वह एक क्षण का, एक मनःस्थिति का सत्य है—एक दौड़ती लहर का गति-चित्र। वह गति-चित्र आप को दीख जाये और देखने मे आप का मन भी थोडी देर के लिए उलझ जाये, तो लेखक को और कुछ नही चाहिए।

यो कुल मिला कर, जीवन के बारे मे मेरे कुछ विचार अवश्य हैं और मैं यह भी चाहता हूँ कि वे आप को रुचे, क्यों कि जीवन से, जीने की भावना से मुझे प्रेम है और मैं चाहता हूँ कि वह प्रेम आप का अनुमोदन और सम्मान पाये।

शारदीया, 1950 —'अज्ञेय'

दूसरे संस्करण की भूमिका

इस नये संस्करण मे एक नयी कहानी जोड दी गयी है। कहानियो का आपस मे कोई सम्वन्ध नही होता, पर यह कहानी भी उसी देश-काल की अनुभूतियो का फल थी जिस की सग्रह की अन्य कहानियाँ, अत. इस का यही आना उचित जान पडा।

जीवन के प्रति मेरा सम्मान दिन-दिन वढा ही है। लेकिन जीवन के प्रति अनेक आयाम-सम्पन्न उस के भूरे-पूरेपन के प्रति, उस के सुखाये हुए ठट्ठर के प्रति नही। पुआल की जुगाली करते हुए हरे खेत को रौदने की कल्पना से तृप्ति पा लेना मुझे नही भाया, न आया ही।

शारदीया, 1957 —लेखक

चौथे संस्करण की भूमिका

कई वर्ष के अन्तराल के वाद ये कहानियाँ मैं ने फिर पढी है। थोडा अचम्भा भी हुआ है, और अच्छा भी लगा है कि ये अभी पढी जा सकती है, कहानियाँ भी, उन की भाषा भी, उन मे कही गयी वात भी। कला आगे वढ जाये—क्यो न वढ जाये? पर हमारे जीवन की गूंज अगर इन कहानियो मे अव भी सुन पडे, और यह पहचाना जा सके कि उस के पीछे निरा शोर नही, एक लय है, तो मुझे और क्या चाहिए!

वसन्त, 1968 —लेखक

अनुक्रम

यह साक्षी हो कि
पठार के तीतरों को
नाम पुकारते
मैं ने भी सुना है

जय-दोल

पठार का धीरज

ऊँचे-नीचे टीले, खँडहर, मटमैली-भूरी हरियाली, धुँधले छोटे झोंप, अँधेरी खोहें; बिखरे हुए पत्थर, कुछ गोल, कुछ चपटे, कुछ उभरे, चुभन-से तीखे, दूर पर चपटी लम्बी इमारत की बत्तियाँ, मानो रेलगाड़ी खड़ी हो।

ये सब यथार्थ हैं।

फिर पठार का धीरज-भरा फैलाव, दुराव-भरा सन्नाटा, झनझनाती तेज़ हवा, चपटे पत्थरों पर मीने के-से हरे-चिट्टे-ललौंहे काही के तारा-फूल, उड़ते-उड़ते बे-भरोस बादल, तीतरों की चौंकी-सी पुकार 'त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि-त-तुः', दूर पर गीदड़ का रोने और भूँकने के बीच का-सा सुर।

ये भी यथार्थ हैं।

लेकिन यथार्थता के स्तर हैं। स्थूल वास्तव, फिर सूक्ष्म वास्तव जिस में हमारे भाव का भी आरोप है, फिर—क्या और भी कोटियाँ नहीं हैं, जिन में भाव ही प्रधान हो, जिन में तथ्य वही पहचाना जाये, जहाँ वह व्यक्ति-जीवन के प्रसार में गहरी लीकें काट गया हो, नहीं तो और पहचानने का कोई उपाय न हो, क्योंकि व्यक्ति-जीवन, व्यक्ति-जीवन के क्षण का स्पन्दन इतना तीव्र हो कि सब-कुछ उसी से गूँज रहा हो, दूसरी कोई ध्वनि न सुनी जा सके?

उन चट्टानों और खँडहरों से भरे पठार की खुली, फैली, लचीली, प्रवहमान व्यापकता से अभिभूत किशोर अगर सहसा सुनता है कि तीतर की बोली त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि न हो कर कुछ और है—क्या है वह ठीक-ठीक सुन लेता है—और उस रेलगाड़ी-नुमा इमारत की बत्तियाँ टिमटिमा कर उसे कुछ बहुत जरूरी सन्देश कह रही हैं जो उसे चाँद निकलने से पहले सुन लेना है, क्योंकि फीके होते हुए दिग्बिन्दु से अगर चाँद उभर आया और खँडहर की अधूरी मेहराब पर उस की जुन्हाई पड़ गयी, तो न जाने

उन की कौन-सी पोल खुल जायेगी—अगर वह यह मत्र सुनता है, तो क्या उस का सुनना धोखा ही है, क्या वह भी वास्तविकता का नया स्तर नही है ? और क्या हमेशा ही हमारा जीवन एकाधिक स्तर पर नही चलता, हमारा अधिक तीव्रता के साथ जीना, क्या एक ही स्तर पर अधिक गति या विस्तार की अपेक्षा अधिक या नये स्तरो का हठात्, जागा हुआ वोध ही नही है ? तीव्र जीवन के क्षण, नयी दृष्टि नये वोध के क्षण, अनेक स्तरो पर जीवन के स्पन्दन की द्रुत अनुभूति—ये विरल ही होते है, जैसे कि तीसरा नेत्र कभी-कभी ही खुलता है

किशोर ने धीरे से कहा, "सुनती हो, यह पक्षी क्या पुकार रहा है ? वह कहता है, प्र-मीला, प्र-मीला !"

प्रमीला नि शब्द हँस दी ।

"सच, तुम सुनकर देखो—वह देखो—प्र-मीला, प्र-मीला—"

प्रमीला ने मानो कान दे कर सुना । अव की वह जरा जोर से हँस दी, हाँ ठीक तो, अगर मान कर अनुकूलता से सुने तो सचमुच तीतर उसी का नाम पुकार रहे है, 'प्रमीला, प्रमीला !'

उसने धीरे से किशोर का हाथ अपने हाथ मे लेकर दवा दिया ।

"और अभी जव चाँद निकलेगा, तव तुम देखना, वह जो धुँधली-सी मेहराव दीखती है न टूटी हुई, उस का आकार भी ठीक 'प्र' जैसा वन जायेगा, मानो चाँदनी तुम्हारा नाम लिख रही हो ।"

प्रमीला की आँखे चमक उठी । उसने कहा, "हाँ, और जव मोर पुकारेगा तो मै सुनूँगी, वह कह रहा है, 'किशोर, किशोर ।' और जव चाँद निकलेगा और वादलो मे रुपहली झालर लग जायेगी—"

"हँसी करती हो ?"

"नही, हँसी क्यो करूँगी भला ? मैं सच कह रही हूँ—ये जो दूर-दूर तक पलास के झुरमुट है, इन की काँपती पत्तियाँ न जाने किस के-किस के नामो पर ताल दे कर नाचती है, और वह कुण्ड के पानी मे चक्कर काटती टिटिहरी चौक कर न जाने किसे बुलाती है—हम सारा इतिहास थोड़े ही जानते है ? केवल अपने नाम सुन चुके, वह भी इस लिए कि—इस लिए कि—"

"कहो न !"

"इस लिए कि—मै नही कहती । कहना नही चाहिए ।"

"कहो भी न ?"

"इस लिए कि मै—कि तुम—तुम मुझे—" और प्रमीला ने पास आ कर अपनी आवाज को किशोर के कन्धे की ओट करते हुए कहा, "तुम मुझे प्यार करते हो ।"

किशोर का हाथ घेरा हुआ-सा बढ गया, पर प्रमीला के आस-पास शून्य मे ही वृत्त बना कर खडा रहा ।

"और इसी तरह कुँवर राजकुमारी को प्यार करता होगा, और कुण्ड के किनारे मिलने आता होगा, और उसी की बाते पलासो ने सुन रखी है और हवा को सुनाते है···"

दूर गीदड़ फिर भूँका । किशोर तनिक-सा चौका, प्रमीला ने पूछा, 'कौन है ?"

किशोर ने भी अचकचाये-से स्वर मे कहा, "कौन है ?"

थोड़ी दूर पर एक स्त्री-स्वर बोला, "तुम लोग वास्तव से भागना क्यो चाहते हो ? कुँवर राजकुमारी को प्यार नही करता था ।"

"फिर किस को करता था ? हाथी पर सवार होकर रोज़ राजकुमारी से मिलने आता था तो—"

"अपनी छाया को । चन्द्रोदय होते ही वह कुण्ड पर आता था, हाथी पर सवार उस की अपनी छाया कुण्ड के एक ओर से बढ कर दूसरे किनारे नहाती हुई राजकुमारी की जुन्हाई-सी देह को घेर लेती थी । उसी लम्बी बढने वाली छाया से कुँवर को प्रेम था, राजकुमारी तो यो ही उस की लपेट मे आ जाती थी ।"

'ऐसा ! तो वह रोज आता क्यों था ? हाथी को पानी मे बढा कर जब वह दोनो बाँहे राजकुमारी की ओर फैलाता—"

"तुम नही मानते ? मै कुँवर से ही पुछवा दूँ ? अच्छा, ठहरो, वह आता ही होगा—देखो—"

किशोर ने देखा । एक बडी-सी छाया कुण्ड के आर-पार पड़ रही थी—नीचे गोल-सी, मानो हाथी की पीठ, ऊपर सुघड़, लम्बी और नोकदार

मानो टोपी पहने राजकुमार।

हाथी धीरे-धीरे पानी मे बढ रहा था। जब गहरे मे उस की पीठ का पिछला हिस्सा पानी मे डूब गया, तब वह खडा हो कर पानी मे सूँड हिलाने लगा। कुँवर ने एक बार नजर चारो ओर दौडायी, राजकुमारी को न देख कर वह हाथी की पीठ पर खडा हो गया। दोनो हाथो को मुँह के आस-पास रख कर उसने दो बार मोर के पुकारने का सा शब्द किया— "मैं-तु ! मैं-तु !" और फिर धीरे से पुकारा, "राजकुमारी ! राजकुमारी हेमा !"

स्त्री-स्वर ने कहा, "मै जा रही हूँ वहाँ···कुँवर के पास। लेकिन वह मुझे नही, अपनी छाया को प्यार करता था।"

गोरोचन की एक पतली-सी कुण्ड की सीढियाँ एक-एक कर के उतरने लगी। निचली सीढी पर पहुँच कर वह थोडी देर रुकी, देह पर ओढी हुई चादर उतारी और फिर एक पैर पानी की ओर बढाया। पानी मे चाँदनी की लहरें-सी खेल गयी।

हाथी की पीठ पर खड़े राजकुमार ने शरीर को साधा, फिर एक सुन्दर गोल रेखाकार बनाता हुआ पानी मे कूद गया, क्षण-भर मे तैर कर पार जा पहुँचा। दोनो साथ-साथ तैरने लगे।

"हेमा, तुम आज उदास क्यो हो ? तुम्हारा अग-चालन शिथिल क्यो है ?"

"नही तो ! क्या मैं बराबर साथ-साथ नही तैर रही हूँ ?"

"हाँ पर·· वह स्फूर्ति नही है—तुम जरूर उदास हो—"

"नही-नही, मै तो बहुत प्रसन्न हूँ। मेरी तो आज सगाई हो गयी है—"

"क्या ? राजकुमारी हेमा—क्या कहती हो तुम ? ठट्ठा मत करो—" कुँवर तैरता हुआ रुक गया।

हेमा ने रुक कर उसे भरपूर देखते हुए कहा, "हाँ, आज तिलक हो गया।"

"कौन—किस के साथ ? तुम कैसे मान सकी ?"

हेमा ने धीरे-धीरे कहा, "मैं राजकुमारी हूँ। ऐसी बातो मे राज-

कुमारियो की राय नहीं पूछी जाती। साधारण कन्याएँ राय देती होगी, पर हमारा जीवन राज्य के कल्याण के पीछे चलता है।"

"और हमारा कल्याण—"

"वह उसी मे पाना होगा। अपना अलग हानि-लाभ सोचना क्षत्रिय-वृत्ति नही है, वैसा तो वनिये—"

"यह सब तुम्हे किसने कहा है ?"

"मेरी शिक्षा यही है—"

दोनो किनारे की ओर बढ रहे थे। कुँवर ने लपक कर सीढ़ी को जा पकडा, और बाहर निकल कर उस पर जा बैठा। हेमा भी निकल कर पास खडी हो गयी। शरीर से चिपकते गीले कपडो के कारण वह और भी पुतली-सी दीख रही थी, गोरोचन का रग और चमक आया था।

दोनो देर तक चुप रहे। फिर कुँवर ने कहा, "तो—यह क्या विदा है ?"

हेमा ने अचकचा कर कहा, "नही, नही !"

"सुनो हेमा, राजकुमारी, तुम—अभी मेरे साथ चलो। हाथी पर सवार हो कर यहाँ से निकलेगे, फिर घोड़े ले कर—"

"कहाँ ?"

"हाथ मे वल्गा, पार्श्व मे हेमा राजकुमारी—तो सारा देश खुला पडा है·· उधर कामरूप-मणिपुर तक, उधर विन्ध्य के पार कन्याकुमारी तक, नही तो उत्तराखण्ड के पहाडो—"

"और यहाँ पीछे—विग्रह और मार-काट, और लोहे की साँकलो मे बँधे हुए वन्दी, और—"

"प्यार पीछे नही देखता, हेमा ! उस की दृष्टि आगे रहती है। मैं देखता हूँ वह सुन्दर भविष्य जिसमे हम दोनो—"

"मैं भी देखती हूँ कुँवर, मगर वह भविष्य वर्तमान से कट कर नही, उसी का फूल है—जैसे बिना पत्ती के भी मधूक मे नया बौर · जैसे पलाश की फुनगी को चूमती हुई आग—"

"नही राजकुमारी, मैं सम्पूर्ण जलना चाहता हूँ। धू-धू कर के धधक उठना, बेबस, पागल, जैसे चैत्र मे पलाश का समूचा वन—"

"कुँवर !"

"कहो, तुम मेरे साथ चलोगी—अभी ?"

राजकुमारी चुप रही। फिर उस ने धीरे-धीरे कहा, "सगाई तो हुई है, क्योंकि नयी सन्धि भी हुई है। विवाह की तो अभी कोई बात नहीं है, क्योंकि विवाह के बाद शायद सन्धि मे वह बल नही रहेगा—मैं उधर की जो हो जाऊँगी। इस प्रकार मैं देश की शान्ति की धरोहर हूँ · इधर की कुमारी, उधर की वाग्दत्ता—मैं कैसे भाग जाऊँ ?"

"तो क्या कहती हो ?"

"कुछ नही कहती, कुँवर। मैं रोज यहाँ आती हूँ, आती रहूँगी। तुम—तुम भी आते हो। यह कुण्ड हमारा अपना राज्य है···नहीं, राज्य नही, हमारा घर है जहाँ हम अपनी इच्छा के स्वामी है, धरती के दास नही। यही हम रहते रहेंगे, चाँदनी और तारो भरा अन्धकार हमें घेरे रहेगा—कुँवर, क्या तुम मुझे ऐसे ही नही प्यार कर सकते ?"

"और भविष्य ?"

"वह किसी का जाना नही है। और उतावली कर के उस को नष्ट करना—"

"धीरज धीरज, हेमा ! मैं तुम्हे चाँदनी की तरह नहीं चाहता जो आवे और चली जावे, मैं तुम्हे—मैं तुम्हे—अपनी छाया की तरह चाहता हूँ, हर समय मेरे साथ, जब भी चाँदनी निकले तभी उभर कर मुझे घेर लेने वाली—"

"और जब चाँदनी न हो तब क्या अन्धकार मुझे लील लेगा—मैं खो जाऊँगी ?" राजकुमारी का शरीर सिहर उठा।

'तब तुम मुझी मे बसी रहोगी, राजकुमारी !"

दूर कही पर चौंक कर तीतर पुकार उठे। पहले एक, फिर दूसरी ओर से और एक। राजकुमारी ने सचेत हो कर कहा, "अच्छा, कुँवर, मैं चली। कल फिर आऊँगी। तुम चिन्ता मत करना।"

कुँवर ने कहा, "राजकुमारी !" फिर कुछ भर्राये-से स्वर मे कहा, "हेमा !"

हेमा ने धीरे-से कहा, "अपने चाँद को तुम्हे सौंप जाती हूँ। देवता

तुम्हारी रक्षा करे, कुँवर—"

उस ने जल्दी से चादर ओढी और नि.शब्द लचीली गति से सीढियाँ चढ़ चली ।

कुँवर ने एक बार दक्षिण आकाश में उभरे वृश्चिक को देखा, फिर झुक कर पानी मे हो लिया और क्षण-भर मे हाथी की पीठ पर पहुँच गया। अँधेरे का एक पुज-सा पानी मे से उठा और कुण्ड के छोर पर अँधेरे की एक बडी-सी कन्दरा मे खो गया ।

हेमा का स्वर फिर पास कही बोला, "समझे ?"

किशोर ने कहा, "राजकुमारी, तुम तो कहती हो वह प्यार नही करता ? वह तो—"

"कब कहती हूँ नही करता था ? पर मुझे नही, अपनी प्रलम्बित छाया को । तभी तो मुझे छोड़ कर चला गया—"

"चला गया ?"

"हाँ, दूसरे दिन वह नही आया। मै देर रात तक कुण्ड पर बैठी रही। तीसरे दिन भी नही आया। फिर पता लगा, जहाँ मेरी सगाई हुई थी वहाँ—वहाँ उसने आक्रमण कर दिया है एक अश्वारोही टुकड़ी के साथ—"

"फिर ?"

"फिर ! इतिहास बाँचना मेरा काम नही है, अपरिचित ! वह सब तुम ने पढा होगा—कितने राज्य, कितने राजकुल विग्रहो से घुल गये, इस का लेखा-जोखा रखना तो तुम्हारी शिक्षा का मुख्य अंग है ! हम तो स्वयं जीने वाले हैं, जीवन के प्रति समर्पित हो कर, क्योकि जीवन का एक अपना तर्क है जो इतिहास के तर्क से—"

"पर कुँवर ?···राजकुमारी, कुँवर का क्या हुआ ?"

"वह नही आया । दूसरे दिन नही, तीसरे दिन नही, सप्ताह नही, पखवाड़े नही। महीने और वर्ष बीत गये। विग्रह फैला और फैलता ही गया। वह नही आया फिर। और—आज भी मैं नही जानती कि मै—कि मैं केवल वाग्दत्ता हूँ, कि विधवा, कि—कि केवल इस कुण्ड की विवाहिता वधू, जिस की लहरियो से खेलते मैने वर्ष बिता दिये ।"

"पर यह तो कुछ समझ मे नही आया। बात कुछ बनी नही !"

"बात का न बनना ही उस का सार है, अपरिचित ! प्यार मे अधैर्य होता है, तो वह प्रिय के आस-पास एक छायाकृति गढ लेता है, और वह छाया ही इतनी उज्ज्वल होती है कि वही प्रेय हो जाती है, और भीतर की वास्तविकता—न जाने कब उस मे धुल जाती है, तब प्यार भी धुल जाता है। तुम मुझे देख रहे हो, क्योकि मेरे साथ तुम्हारा कोई रागात्मक सम्बन्ध नही है। मैं खँडहर की जमी हुई चाँदनी हूँ कुण्ड की एक विजडित लहर हूँ। पर मुझे देखो, देर तक देखो, लालसा मे देखो—तब देखोगे, मेरे आस-पास कितनी घनी दुर्भेद्य छाया तुम ने गढ ली है—क्यो भद्रे, तुम क्या कहती हो?"

प्रमीला इस सम्बोधन से अचकचा गयी। उसने तनिक-सा किशोर की ओर हटते हुए कहा, "मैं—मैं—कुछ नही राजकुमारी, मैं तो—"

राजकुमारी ईषत् स्मित-भाव से बोली, "मैं तो जो कहूँगी इस पार्श्व-वर्ती अपरिचित से कहूँगी, यही न ?" फिर कुछ गम्भीर हो कर, "लेकिन भद्रे, वही ठीक है। यह फैला पठार देखो—आकाश, आँधी, पानी, शीता-तप, सब के प्रति यह समर्पित है, किसी के आस-पास छायाएँ नही गढता, और सब की वास्तविकता देखता है। तुम तो जानती हो, तुम मेरी बहन हो। तुम्हे कुछ कहना ही हो, ऐसा क्यो आवश्यक है ? यह पठार भी तो कुछ नही पूछता ! अपरिचित, क्या यह पठार वास्तव है, तुम्हे लगता है ?"

"हाँ, और नही। मैं नही जानता। इस समय मैं मानो इस से आत्म-सात् हूँ, अलग उस को जोखने की दूरी मुझ मे नही।"

"वह तो जानती हूँ। पठार मे, कुण्ड मे आत्मसात् न होते, तो क्या मुझे देखते ? मेरी बात सुनते ? क्योकि मैं—"

"राजकुमारी, तुम कौन हो ? क्या तुम वास्तव नही हो ?"

"वास्तव !" राजकुमारी हँसी। तारे मानो कुछ और चमक उठे, और हवा कुछ तेज हो गयी। वास्तव तो हूँ, शायद, जो कुछ है सभी वास्तव है। लेकिन वास्तविकता के स्तर है। धीरज हमे एक साथ ही अनेक स्तरो की चेतना देता है, अधैर्य एक प्रकार का चेतना का धुआँ है जिस मे बोध का एक-एक स्तर मिटता जाता है और अन्त मे हमारी आँखें कड़ुवा जाती है, हमे कुछ दीखता नही—"

फिर वही तीतर बोले, "त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि !"

राजकुमारी ने कहा, "कभी इस पठार के तीतर और मोर दूसरे नाम पुकारा करते थे। मैंने अपना नाम अनेक बार सुना था। पर अब—" उस ने फिर मुसकरा कर अर्थ-भरी दृष्टि से दोनो को देखा, "अब कदाचित् वह और नाम पुकारते हैं—है न ?"

तीतर फिर बोले, "त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि।"

प्रमीला कुछ लजा गयी। किशोर ने अचम्भे मे आ कर कहा, "राजकुमारी, तुम कौन हो ?"

"मैं कोई नही हूँ। मैं पठार का धीरज हूँ। वह दृष्टि देता है। लेकिन मैं चली—"

एक जोर का झोका आया। कुण्ड पर अठखेलियाँ करती चाँदनी लहरा कर चक्कर खा कर मूर्छित हो गयी, अदृश्य टिटिहरी उडता वृत्त बना चीख उठी, बादल का एक चिथडा चाँद का मुँह पोछ गया, पलाश के झोप सनसना उठे, कही गीदड भूँका, प्रमीला किशोर के और निकट सरक आयी, और, उसे मग्न-सा देख कर बड़े हलके स्पर्श से उसे छू कर स्वयं ठिठक गयी, किशोर ने अचकचाये निःशब्द स्वर से मानो कहा, "कौन—कहाँ—" और फिर सचेत होकर चारो ओर आँखे दौडायी।

कही कोई नही था, केवल पठार का सन्नाटा।

तीतर एक साथ जोर से पुकार उठे, "त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि।"

किशोर और प्रमीला की आँखे मिली, स्थिर हो कर मिली और मिली रह गयी।

नही, यह बिलकुल आवश्यक नही है कि तीतर किसी का भी नाम पुकारे। पठार की अपनी एक वास्तविकता है, उन की अपनी एक वास्तविकता है। दोनो समानान्तर है, सहजीवी है, संयुक्त है, यह बिलकुल आवश्यक नही है कि वास्तविकता के अलग-अलग स्तर कही भी एक-दूसरे को काटे। जो बोध हो स्वयं ही हो; चेतना स्वतः उभर कर फैल कर जिस स्तर को भी छू आवे, चेतना स्वच्छन्द रहे, क्योकि धीरज उन मे है, उन मे रहेगा—

किशोर ने हाथ बढ़ा कर प्रमीला के दोनो शीतल हाथ थाम लिये।

तीतर फिर बोला, 'त-तीत्तिरि !'

आँखो मे बडी हलकी मुसकान लिये दोनो ने एक-दूसरे को सिर से पैर तक देखा ।

और स्थिर धीरज-भरे विश्वास से जान लिया कि छाया किसी के आस-पास नही है, दोनो वास्तव मे आमने-सामने है।

तब चाँद गोराचन के बहुत बडे टीके-सा बडा हो आया ।

साँप

अच्छाई-बुराई की वात मैं नही जानता। कम से कम इतनी नही जानता कि सब के, और खास कर अपने, वारे मे यह फैसला कर सकूँ कि हम अच्छे हैं कि बुरे। लेकिन उस के विना जी न सके, चल न सके, चाह न सके, ऐसा तो नही है? उस के लिए जितना जरूरी है, उतना मैं जानता हूँ कि वह अच्छी है। और यह भी जानता हूँ कि इस वात को जाने रहना, पकड़े रहना जरूरी है कि वह अच्छी है।

सवेरे-सवेरे उस से मिलने गया था। यो तो अकसर हम मिलते है, पर वह सवेरे-सवेरे का मिलन कुछ वहुत विशेष था। मैं चौक कर उठा था, तो एक तो जिस स्वप्न से उठा था, वह मेरे मन पर छाया था, दूसरे आँख खोलते ही सामने देखा, वगुलो की एक छोटी-सी डार आकाश मे उडी जा रही थी। तो पहले तो मै इस मे उलझा; स्वप्न वहुत मीठा था, उस की मिठास विगडने का डर नही था, वल्कि उलझने से ही डर था, यो छोड देने से वह और छायी जा रही थी· इसलिए वगुलो की डार पर ही चित्त स्थिर किया। न जाने उस से क्यो एक हिलोर, एक ललक मन मे उठी। उसे मैंने कविता मे वाँधना चाहा—कविता मुझे नही आती, छन्द वाँधने से तो कसीदा काढना कम दुष्कर मालूम होता है, पर हाँ, आधुनिक ढग की अनकहनी को अर्थ की वजाय ध्वनि से कहना चाहनेवाली कविता से कुछ ढाढस वँधता है कि हाँ, यह तो हीरा-पन्ना-मोती जडा देव-मुकुट नही है, देशी पहरावा है, यह दुपल्ली शायद हम भी ओढ ले। तो मैंने कहना चाहा, 'भाले की अनी-सी वनी, वगुलों की डार, फुटकियाँ छिट-पुट, गोल वाँध डोलती, सिहरन उठती है एक देह मे, कोई तो पधारा नही मेरे सूने गेह मे, तुम फिर आ गये, क्वाँर?' देह मे, गेह मे तो वाकायदा तुक वन गयी; और अन्त मे क्वाँर की तुक जो दूर कही वगुलो की डार से मिल

बैठी तो, जैसे स्मृति मे कविता छा गयी, और कुछ पूरेपन का भाव आ गया—मुझे अच्छा लगा। इतना अच्छा लगा कि फिर आगे नही सोचा; फिर स्वप्न-ही-स्वप्न था और मैं उसी मे डूब गया। स्वप्न-भरी आँखे लिये-लिये ही उस के पास पहुँचा, और उस से बोला, "घूमने चलोगी? दूर-लम्बी सैर को—जंगल मे को चलोगी?"

इतना तो ख़ैर उसे जवाब का मौका देने से पहले कह ही गया। पर इतना ही नही। मन-ही-मन आगे और भी बहुत कुछ कह गया, जैसे बगुले की डार देख कर मन-ही-मन क्वाँर से बतिया गया था, वह भी कविता मे। मैंने कहा कि चलोगी, जंगल मे-को, जहाँ सन्नाटा है, एकान्त है, जहाँ सब अपनी-अपनी धुन मे ऐसे मस्त है कि मस्ती की एक नयी धुन बन गयी है जिस मे सब गूँजते है—पर अलग-अलग, बिना एक-दूसरे पर हावी हुए जैसे शहर मे होता है—शहर मे जहाँ तुम कुछ ही करो, दूसरो को बडी दिलचस्पी है, टाँग नही अडायेगे तो शोर तो मचायेगे, और नही तो राह चलते खँखारते हुए ही चले जायेंगे! जगल मे मस्त, मनचले, निर्जन जंगल मे जहाँ बडा मीठा-मीठा धुँधला अँधेरा है, आसरा और ओट देनेवाली घनी छाँह की बाँह है—उस जंगल मे चलोगी? वहाँ जहाँ कोई न होगा, वहाँ—लेकिन इतना कह कर न जाने क्यो जबान रुक जाती थी। मन ही रुक जाता था, भोर का देखा हुआ स्वप्न ही छा जाता था। स्वप्न मुझे याद था, बार-बार उभर कर याद आता था पर गूँगे की गुड की तरह—स्वप्न-भरी आँख से मैं अब भी देखता था कि उस मे हम—

वह चल पडी मेरे साथ सैर को। वह अच्छी जो है। मै जानता हूँ। मेरे साथ-साथ चलती जा रही थी और साथ चलते-चलते मेरे जैसे दो मन हो गये थे। एक उमँग रहा था कि वह कितनी अच्छी है और साथ है और दूसरा अभी स्वप्न की खुमारी मे ही था, मीठे स्वप्न की जिस मे हम—

हम लोग जगल मे पहुँच गये। पहले, गीली-गीली भारी-भारी, ओस से दूधिया घास—उस से भी मैंने चलते-चलते बात कर ली कि वाह, ऊपर से तो चिट्टी-चिट्टी दूध-धुली साधू-बाबा, भीतर-भीतर उमंगो से कितनी हरी हो रही है, क्या कहा है किसी ने, अरमान मचलते है—फिर झाडियाँ शुरू हो गयी, फिर छोटे पेड, फिर न जाने कब जगल चुपके से घना हो

गया। पहले करंज और झाऊ और ढाक, फिर सेमल और तून, और फिर वडे-वडे महारूख। जमीन भी ऊँची-नीची हो गयी, कही टीला, कही पगडण्डी तो कही पानी की लीक जहाँ कुछ दिन पहले नाला वहता होगा। लेकिन टीला तो उसे कहे जो खुला हो, जिस की टॉट देखी जाये, यहाँ तो सव ऐसा ढका था! फिर वीहड में सहसा एक थोडी-सी खुली जगह भी, जरा ऊँची मगर वैसे चिपटी, जैसे एक चौकी-सी पड़ी हो झाडियो मे, उस पर एक पुराना देवी-मन्दिर। मै इतनी उमँगती उदार तरंग मे था कि कह गया मन्दिर, नही तो उस छोटी-सी, अध-टूटी, काही से काली देवली को वहुत कोई माई का थान कह देता, मन्दिर! लेकिन मैने देवी का मन्दिर ही देखा; वीहड वन के वीच मन्दिर, मैने सोचा यहाँ कभी तान्त्रिक साधक वैठ कर देवी को साधते होगे। और उन की साधना के औघड रूप भी जल्दी से मेरी दृष्टि के सामने दौड गये—वहुत-से, क्योकि दृष्टि असल मे तो अभी स्वप्न मे आविष्ट थी, उसे साधको की रंगीन विकृतियो से क्या मतलव था, वह तो उसी स्वप्न को देख रही थी जिस मे हम—

हम ' यानी वह और मै, और वह मेरे साथ चली आ रही थी। वडे भोलेपन से। उस की आँखो मे मेरी तरह दोहरी दीठ नही थी, वे खुली वाउडियाँ थी, स्वच्छ, शीतल उडते वादल की परछाई दिखाने वाली। वह वैसी ही मुग्ध, अपने मे सम्पूर्ण मेरे साथ चली आ रही थी। मै उसे देख लेता था, उसके साथ होने की वात सहसा मन मे उभरती थी, फिर वीहड़ वन के अकेले, हरे, गीले धुँधलेपन की, फिर मेरी आँखे उस की आँखो की कोर से एक ढुलकी हुई लट के साथ फिसल कर उस के ओठों तक आती थी और फिर मेरा मन ठिठक जाता था। फिर आगे नही सोचता था, फिर पीछे लौट जाता था। क्योकि पीछे स्वप्न था, स्वप्न जो पूरा था, जिस स्वप्न में हम'

तभी सामने नीचे कुछ तीखी मुरमुराहट हुई। हम ठिठक गये। सहसा वह वोली, "वह देखो सामने, साँप।"

मैने भी देख लिया। घास के किनारे पर, मन्दिर के आस-पास की वजरी पर रेगता हुआ, ललौहे-भूरे रंग का साँप था।

वह गोल-गोल आँखे कर के वोली, "कितना सुन्दर है साँप!"

उस की आँखे सचमुच बडी भोली थी। डर उन मे बिलकुल नही था। केवल एक भोला विस्मय, एक मुग्ध भाव कि अरे, ऐसी सुन्दर चीज भी होती है, वह भी मिट्टी में पडी हुई, अनदेखी, उपेक्षित !

मैंने भी देखा। सचमुच साँप सुन्दर होता है। निर्माता की एक बडी सफलता है, बडे कलाकार की प्रतिभा का एक करिश्मा—कही कोने नही, कही अनावश्यक रेखा नही, बाधा नही, भार नही, लहरीली, निरायास, लययुक्त गति, बिजली-सी त्वरा-युक्त लेकिन बिजली की कौंध मे भी कही नोके होती है और साँप की गति निरा प्रवाह है' 'सुन्दर, लचीला, ललौहा-भूरा रंग, झिलमिल चमकीली केंचुल, चित्तियाँ जो न मालूम केंचुल के ऊपर है कि भीतर, ऐसी काँच के भीतर मे झाँकती-सी जान पडती है''

मैंने तो देख लिया। फिर मैं उसे देखने लगा, और वह साँप को देखती रही। हम दोनो जैसे मन्त्रमुग्ध थे, लेकिन एक ही मन्त्र मे नही। वह साँप को देखती थी, मैं उसे देखता था। वह साँप के लयमय प्रवाह पर विस्मय कर रही थी, मैं उस के चेहरे की मानो क्षण-भर के लिए थम गयी चंचल बिजलियो को देख रहा था और सोच रहा था, कोने एक दूसरे को काटते हैं, पर लहरीली गतिमान रेखाएँ काटती नही, झट से कौंध कर मिल जाती है, बिजली की कौंध तो है ही लय होने के लिए, लहर को देखो और खो जाओ, डूब जाओ, लय हो जाओ। उस की आँखे साँप पर टिक कर मुग्ध थी। मेरी आँखो मे मेरे भोर मे देखे हुए स्वप्न की खुमारी थी। स्वप्न मे इसी तरह देखा था कि'''

साँप आगे बढ गया। मन्दिर की दीवार के साथ सट गया, ऐसा सट कर चिपक गया कि बस—जैसे मन्दिर की रेखा से अलग उसकी रेखा नही है, जैसे मन्दिर की नीव से ही वह सटा हुआ उठा है और वैसा ही रहेगा।

और चिपके-चिपके भी वह स्थिर नही था, वह आगे सरक रहा था। आगे-आगे, और गहरा चिपकता हुआ। जैसे उस की देह को रगड की आरी से कट कर मन्दिर की दीवार के नीचे उस के लिए जगह बनती जाती हो और उस मे वह धँसता-पैठता जाता हो।

बढता हुआ वह हमारे सामने की दीवार के कोने तक बढ कर दूसरी दीवार के साथ मुड चला। थोडा और बढा, फिर रुक गया। आधा उस

दीवार के साथ जो हमारे सामने थी, आधा साथ की जो हमारी ओट थी। उस का सिर ओट हो गया, कमर दोनो दीवारो के जोड पर टिक गयी।

मैंने सहमा कहा, "इस वक़्त यह कैसा वेध्य है। अगर मैं मारना चाहूँ, तो निरीह मर जाये—"

"हाँ, लेकिन क्यो मारना चाहो ? इतना सुन्दर—"

मैंने अपनी ही झोक मे कहा, "अभी ढील मारूँ, तो बस काटने को मुड भी न सके—"

"क्या ज़हरीला है ?"

"हो भी तो क्या ? इस समय असहाय है, मौक़े की बात है, कुछ कर भी न सके, सारा रूप लिये ज्यो का त्यो पडा रह जाये विटुर-विटुर तकता !"

उस की पहले ही मुग्ध गोल आखे करुणा से और बडी-बडी हो आयी। बोली, "बेचारा कितना असहाय !" कितनी करुणा थी उस स्वर मे, कितना निरीह था वह स्वर कि शायद साँप से भी अधिक निरीह ! स्वप्न मे मैंने देखा था वह और मैं—हम—लेकिन स्वप्न की उलझन—जैसे सुलझ गयी, मेरी दोहरी दीठ इकहरी हो गयी और मैंने देखा, मै अलग यहाँ, वह अलग वहाँ, बडी सुन्दर, बड़ी अच्छी, मेरे साथ जगल मे अकेली, लेकिन अलग वहाँ। और हम दोनो खड़े उस सुन्दर चित्तीदार ललौहे-भूरे, लचीली लहर से बलखाते साँप को देखते रहे। मै भी, वह भी। चाहे मैं साँप को जितना देख रहा था उस से अधिक उसी को देख रहा था। साँप तो मन्दिर की भीत से सटा पडा था, और वह मुझ से सटी खड़ी थी।

फिर मैंने कहा, "चलो आगे चले।"

हम लोग चल पड़े। पर असल मे आगे हम नही चले, हम लौट आये। वह बीहड मे का मन्दिर वही खडा रह गया। तान्त्रिक वहाँ कभी अपनी औघड़-पूजा किया करते होगे, किया करे। उन्होने वैसा सुन्दर साँप कभी थोडे ही देखा होगा—कम से कम उतना असहाय और वेध्य ? यो तो मैंने भी कभी नही देखा, स्वप्न मे भी नही, यद्यपि सपने मैंने एक से एक सुन्दर देखे है, जिन्हे मै कह भी नही सकता। और किसी को तो क्या, उसको भी नही, जो मैं जानता हूँ कि इतनी अच्छी है, चाहे मै अच्छा होऊँ या बुरा।



आदम की डायरी

मैं क्यों और कैसे बना ?

'बनना' क्या होता है, मैं जानता हूँ। क्योंकि यवा ने और मैंने मिलकर इन सुन्दर उद्यान की मिट्टी में कई बार टीले बना कर ढहा दिये हैं, कई बार अपने पैरों के ऊपर गीली मिट्टी जमा कर पैर खींच कर वैसी ही खोह बनायी है जैसी में हम रहते हैं 'यह भी मैं जानता हूँ कि जैसे पैर ढँक लेने से और हाथ छिपा लेने से भी उन की बनायी हुई खोह बनी ही रहती है, उसी तरह जिन चीजों का बनाने वाला नहीं दीखता, उस का भी कोई बनाने वाला होता अवश्य है। खोह के भीतर पैर के आकार का खोखल देख कर हम उस पैर की कल्पना कर सकते हैं जिस पर वह कन्दरा टिकी थी, बाहर से कन्दरा की दीवार पर उँगलियों की छाप देख कर हाथ का अनुमान कर लेते हैं इसी तरह यदि हम इस उद्यान के रंग-बिरंगे, सूखे-गीले, चल-अचल विस्तार में परे देख सकते तो शायद इस के भीतर भी हमें किसी के पैर के आकार की प्रतिकृति दीख पडती, इस पर भी किसी के हाथों की छाप पहचानी जा सकती हम छोटे हैं, बनाने वाला बडा होगा, हो सकता है कि जैसे इस उद्यान की मिट्टी पर बडी लम्बी लकीर बना सकता हूँ उसी तरह बनाने वाला वैसे तो छोटा हो पर बडाई को घेर सकने की, मिटा और फिर बना और आडा-तिरछा बना सकने की भी सामर्थ्य रखता हो '

तो मुझे कैसे, किसने, क्यों बनाया ?' समझ में नहीं आता। वह कोने के पेड में पडा हुआ साँप अपनी गुजलक खोल कर और जीभ लप-लपा कर कहता था—पर साँप की बात मुझे बुरी लगती है'' वह जब इधर-उधर पलोटता हुआ सरकता है और मिट्टी पर सूखे नाले-सी लकीर डालता चलता है, तब मेरे रोएँ न जाने क्यों खडे हो जाते हैं। साँप को

देखता हूँ, तो दिन-भर अनमना-सा रहता हूँ, यवा पूछ-पूछ कर तंग कर देती है कि क्यो ? पर मेरा दिन अच्छा नही बीतता···साँप अनिष्ट है···

क्यो उस ने मेरे मन को ठीक वैसे ही घेर कर बाँध लिया है जैसे वह उस फल देनेवाले पेड़ को अपनी गुजलक मे कसे रहता है ? क्यो मेरा मन या तो सोच ही नही सकता, या साँप के दबाव के अनुसार ही सोच सकता है ?

वह मुझे देख कर हँसता है। उस की हँसी मे कुछ ऐसा होता है, जो काँटे की तरह सालता है। वह बताना चाहता है कि वह मुझ से अधिक जानता है, मुझ से अधिक समर्थ है, मुझ से अधिक पराक्रमी है। किन्तु मै तो यवा को देख कर यवा को दर्द पहुँचाने के लिए कभी नही हँसा हूँ ? यवा भी तो बहुत-सी बाते नही जानती जो मैं जानता हूँ, यवा से भी तो बहुत-से काम नही होते जो मैं कर सकता हूँ।

यवा मेरे साथ रहती है। यवा मेरी है। मै उसके लिए फल लाता हूँ, मै उसके लिए फूल तोड कर बिछाता हूँ। मै अपने मुँह मे पानी लेकर एक-एक घूँट उस के मुँह मे छोड़ता हूँ। मुझे इस मे सुख मिलता है कि जो काम मैं करता हूँ वे सब के सब यवा न कर सकती हो। मुझे इस मे भी सुख मिलता है कि जो काम वह कर भी सकती है, वे भी मेरी मदद के बिना न करे। यवा मेरी है।

साँप तो मेरा कोई नही है ? उस का दिया हुआ तो मैं कुछ लेता नही ? एक फल दिखा कर कभी वह बुलाया करता है, कभी डराया करता है, कभी तिरस्कार से हँसता है, पर मैंने तो वह फल कभी चाहा नही है, मैंने तो उस की ओर देखा भी नही है, मैंने साँप की बुलाहट को अनसुनी ही सदा की है, तब वह क्यो हँसता है ?

मैं साँप का नही हूँ, क्या इसीलिए वह हँसता है ? यदि मैं भी उस का होता, जैसे यवा मेरी है, तब क्या वह भी मेरी कमजोरी मे सुख पाता, क्या वह अपनी लपलपाती हुई जीभ से चाटा हुआ पानी मुझे·· पर उह ! मै नही चाहता वह !

लेकिन साँप हँसता था और कहता था, मै उस का हूँ। कहता था जब तुम बने भी नही थे, तब से तुम मेरे ही थे, जब तुम नही रहोगे, तब भी

तुम मेरे ही रहोगे। मेरी गुंजलक तुम को घेरनेवाली लकीर है। इस के बाहर कहीं भी तुम नही जाओगे, कही भी नही रह पाओगे।

मैं उस का हूँगा, जिसने मुझे बनाया है और यह सब कुछ बनाया है। पर वह कौन है, मैं कैसे जानूँ

वह साँप तो कुछ भी नही मानता। उस की हँसी एक भीषण अव-मानना की हँसी है। उस मे विश्वास नही है वह कहता है मैं सब कुछ जानता हूँ, क्या जानना ही विश्वास छोडना है और क्या विश्वास छोडने से ही बडा और समर्थ बन जाता है?

उस की किसी बात मे विश्वास नही है। पर जब वह बात कहता है तो लगने लगता है, इस बात मे विश्वास किया जा सकता है

जब से मैंने साँप का इशारा मान कर उस की बतायी हुई दिशा मे देखा है, तब से मेरा तन अभी तक थर-थर काँपता ही जा रहा है।

उसने कहा था, "तुम कहते हो, यवा मेरी है, इस लिए हम दोनो एक हैं। पर जो चीजे एक-जैसी नही है, एक तरह नही बनी है, वह एक कैसे हैं? तुम धोखे मे हो, धोखे मे।"

मैंने उस की बात नही सुनी थी। मैंने जवाब नही दिया था। मन ही मे सोचा था, यह झूठ है। हम दोनो एक है, क्योंकि इतने बडे उद्यान मे एक यवा ही थी जिस को देख कर मैंने जाना था कि यह मेरे जैसी है, और जो सहसा ही मेरे पास आ कर आयी ही रह गयी थी, भोजन खोजने भी नही गयी थी, जिस के लिए मुझे स्वयं ही भोजन लाने की और बैठने की जगह बनाने की इच्छा हुई थी। हम दोनो मे कुछ भी भेद नही है, हम दोनो एक ही है, उद्यान मे हम दोनो है जो एक-दूसरे को जानते है .. साँप झूठा है।

पर वह ठठा कर हँस पडा था और बोला था, "तुम यवा को नही जानते, नही जानते। तुम अपने को भी नही जानते। तुम नंगे हो, नंगे।"

वह शायद मेरा मौन तुडवाना चाहता था, तभी तो जब मैंने उस की बात न समझ कर पूछा था, "नंगा क्या होता है?" तब वह ठठा कर हँस

पड़ा था और बोला था, "नंगे हो तुम ! नंगी है यवा ! तुम दोनों नंगे हो, तुम अलग हो, तुम दो हो !"

मैं तब भी नहीं समझा था, किन्तु तभी से न जाने क्यों मेरे शरीर में कँपकँपी शुरू हो गयी थी। और यवा को अपने पार्श्व में आया देख कर मैं आश्वस्त नहीं हुआ था, और उस की तरफ देख कर जैसे सहसा मुझे लगा, क्या यवा सचमुच और है ? अपनी देह देख कर तो मुझे ऐसा कुतूहल नहीं होता जैसा यवा की देह को देख कर होता है, तब क्या सचमुच वह देह मेरी देह से और है !"

यवा ने कुछ समझ कर मेरा कन्धा पकड़ लिया था, और जैसे मेरे रोंगटे और भी काँप कर खड़े हो गये थे और साँप ने फिर हँस कर कहा था, "यवा कहती थी, सब कुछ एक ही किसी ने बनाया है। तब तो सब कुछ एक है, है न ? तब हमें सर्वत्र एकता दिखनी चाहिए। पर देखो तुम्हारे शरीर और और हैं—वे तुम्हारे बनाने वाले की एकता को झूठा बताते हैं ! जाओ उसे छिपाओ—और उसे, और उसे, और उसे !"

और उस की पलकहीन आँखें और लपलपाती दुहरी जीभ-जैसे हमारी देहों को जगह-जगह छेदने लगी

मैंने अपने ही कम्पन पर क्रुद्ध होकर कहा, "यवा ने तुम से कहा, यवा ने ! तुम झूठे हो, यवा तुम्हारी ओर देखती भी नहीं !"

साँप कुछ शान्त होकर बोला, "क्या कहा ?" और जैसे हमें भूल कर चक्कर पर चक्कर देता हुआ उस पेड़ पर लिपटने लगा। पेड़ का तना छिप गया, फिर एक-एक कर के शाखें भी छिपती चली

पता नहीं क्यों पेड़ का छिपते जाना मुझे अच्छा नहीं लगा। लगने लगा कि यह अनिष्ट है, पर जैसे मेरी आँख उस पर से हटी नहीं, और मेरी देह और भी काँपने लगी।

यवा ने मुझे खींचते हुए कहा, "चलो, यहाँ से चलो ··!"

एकाएक मुझे कुछ याद आया, मैंने यवा से पूछा, "यवा, क्या तूने सचमुच साँप से बात की थी ?"

यवा ने डटकर मुझे और भी जोर से खींचते हुए कहा, "चलो, आदम, चलो यहाँ से !"

हम लोग हट गये। दूर चले गये, जहाँ वह पेड और साँप की खड़े पानी-सी आँखे हमे न दीखे। पर मेरे शरीर का कम्पन वन्द नही हुआ, और मुझे लगता रहा कि शून्य हवा मे से कही से साँप की आँख निरन्तर मुझे भेद रही है···

जब झील मे से नहा कर तपती रेत पर लेटे-लेटे हमे फिर भोजन की इच्छा हुई, और हमने देखा कि आकाश का वह पीला फल फिर लाल हो चला है, तव एकाएक मुझे वहुत अच्छा लगने लगा। मन मे हुआ, आज साँप की हर एक वात का मै सामना कर सकता हूँ। मैं यवा का हाथ पकड़कर उसे उसी पेड की ओर खीच ले चला जिस पर साँप लिपटा था।

मुझे डर नही लगा, मैं काँपा भी नही। राह मे एकाएक मैंने पूछा, "यवा, तुम ने सचमुच साँप से वह वात कही थी ?"

यवा ने जवाव नही दिया। फिर एकाएक चौंक कर वोली, "वह देखो, वह !"

मैंने देखा।

पेड सारा साँप की गुजलक मे छिप गया था। जैसे कीडा पत्ते को समूचा खा जाता है, वैसे ही साँप की गुजलक ने भूतल से ले कर ऊपर तक समूचे पेड को लील लिया था—तना, शाखा-प्रशाखाएँ, टहनी-फुनगी सव छिप गयी थी—और स्वय साँप भी गुजलक के भीतर कही सिर छिपा कर सोया था—जैसे वहाँ न साँप था न पेड, केवल एक गुँथी हुई विराट् गुजलक—

और हाँ, उस गुजलक के ऊपर, जैसे उसी से निर्भर, एक अकेला पका हुआ लाल फल··

यवा ने ज़ोर से मुझे पकड लिया। मैंने एक हाथ से उसे सँभालते हुए जाना, वह काँप रही है, और उस के भीतर कुछ वडे जोर से धक्-धक् कर रहा है।

मैंने हौसला दिलाने को कहा, "क्यो यवा, क्या है ?"

उत्तर मे वह और भी जोर से मेरे साथ चिपट गयी। मैंने फिर पूछा, "यवा, यवा, डरती हो ?"

उसने और भी चिपट कर कान के पास मुँह रख कर धीरे से कहा, "साँप सोया है।"

मैं बोला, "तो फिर ?"

यवा फिर चुप हो गयी, मैंने देखा वह मेरे साथ अधिकाधिक चिपटती जा रही है, और उस के भीतर धक्-धक् द्रुततर होती जा कर जैसे मुझे भी भर रही है·· मेरे रोएँ फिर खड़े होने लगे, पर डर से नहीं, डर से कदापि नही—किस से, यह मै नही जानता !

मैंने कहा, "कहो यवा, क्या है ?"

वह फिर चुप रही। मैंने फिर उस की काँपती देह-लता, सकुची हुई मुद्रा और लाल होते चेहरे को देखते हुए, दूसरा हाथ उस के माथे पर रखते हुए पूछा, "मेरी बीरवहूटी, बता, क्या चाहती है ?"

उसने एक बार बड़े जोर से धक् से हो कर कहा, "वह फल मुझे ला दोगे ?" और मुँह छिपा लिया।

मुझे नही समझ आया कि क्या कहूँ। न जाने कैसे मैंने एक हाथ से यवा को पकडे-ही-पकडे दूसरा हाथ बढ़ा कर वह फल तोड लिया—शायद यवा के भीतर की वह धक्-धक् मुझे धकेल गयी।

एकाएक साँप हिला। यवा ने लपक कर फल मे एक चाक दे मारा और शेष मेरे मुँह मे ठूँस दिया—साँप ने जरा इधर-उधर सरक कर सिर बाहर को निकाला—और साँप का कुण्ठित कर देनेवाला उन्मत्त अट्टहास सारे उद्यान मे गूँज गया··

"जो मैं स्वयं तुम्हे दे रहा था, वह तुम ने मुझ से छिपा कर तोड़ खाया। छिपा कर, छिप कर, अलग हो कर, तुम जो सब कुछ एक बताते हो, तुम मेरी झूठ-मूठ की नीद से धोखा खा गये ! अब तुम्हारी देह के भीतर मेरा लाल फल है, और तुम्हारी देह को मेरी यह गुजलक बाँधेगी—बाँधेगी तुम्हारी नंगी देह को जो—तुम नंगे हो, नंगे ! नगे !"

क्या जिस समर्थ भाव से भर कर मै वहाँ गया था वह भुलावा था ? साँप ने हमे धोखा भी दिया तो भी मै समर्थ हूँ। मै अपनी यवा को ले कर उस उद्यान से बाहर चला आया हूँ। यहाँ केवल वीरान है, पेड-फल-

यवा के पास आऊँगा, बहुत पास, बहुत पास, बहुत पास, उस से एक···
और वहाँ कुछ नही होगा, साँप भी नही होगा, बनानेवाला भी नही होगा,
हम भी इस मरुभूमि मे होगे और हम एक होगे···

2

यह क्या हो गया है ?

उस समय साँप नही देख रहा था, वह साँप जो सब कुछ जानता था; तब जो साँप का और हमारा बनानेवाला है वह भी नही देख रहा होगा; और अँधेरे मे हम भी एक दूसरे को नही देख सकते थे, यवा और मेरे बीच के भेद को नही देख सकते थे, तब छिपाना हम किस से चाहते थे ?

यवा मेरी जाँघ पर सिर रखे लेटी थी, मैं कोहनी टेके अध-लेटी मुद्रा मे था। हम दोनो सोना चाहते थे, पर शरीर नही मानता था। न जाने हम दोनो के भीतर क्या खूब जागरूक हो कर धक्-धक् कर रहा था। और उस के दबाव से शरीर भी जैसे टूटते-से थे, थकित-चकित-क्लान्त-से होते थे पर फिर भी ढीलना नही चाहते थे, तने-ही-तने रहना चाहते थे, अशान्त अश्लथ, खण्डित, असंकुचित, अपरावृत·· और इसे न समझे हुए, न चाहे हुए दबाव के नीचे मैं बहुत अकेला, बहुत ही छोटा और दयनीय-सा अपने को जान रहा था···

बहुत ही दयनीय, बहुत ही छोटा, बहुत ही अकेला ··यवा मेरी जाँघ पर चुपचाप पड़ी थी, पर न जाने कैसे मै अनुभव कर रहा था, उस रात की निविड, निरालोक, स्तब्धता मे मेरे साथ घनिष्ठ हो कर भी वह जैसे अकेली अनुभव कर रही है, हम दोनो बिना बताये अलग-अलग अपने को तुच्छ और अकेले समझते हुए कही छिप जाना चाहते है, समा जाना चाहते है—एक-दूसरे की आँखो से नही, एक-दूसरे से तो सट कर, किन्तु अन्य न जाने किस की आँखों से···

जैसे किसी अनदीखते साँप की अनदीखती, अस्पृश्य गुजल्क मे हम दोनो बद्ध हो, और—

और मेरे मन मे रह-रह कर यवा की काँपती हुई हँसी से कही हुई बात गूँज जाती थी, "अगर वैसी गुंजलक मुझ पर लिपट जाये, मैं सारी

जकडी जाऊँ, तो कैसा लगे ? अच्छा बताओ तो, अगर तुम उसी तरह बाँहो से मुझे बाँध कर छा लो और मेरे बाल पकड कर उन मे मुँह छिपा लो, तो कैसा लगे बताओ तो ? ..."

कैसा लगे, बताओ तो न जाने कैसा लगे, यवा, न जाने कैसा लगे··· पर मैं तो बडा दयनीय, बहुत छोटा, बहुत अकेला हूँ और मैं छिप जाना चाहता हूँ न जाने किस की आँखो से—मुझे अच्छा नही लगता ·

मेरा शरीर सिहर कर तनिक-सा काँप गया। यवा ने चौंक कर आधी उठ कर भर्राये से स्वर मे कहा, 'कैसा लगता है, आदम, बताओ तो ?"

मेरे मन मे हुआ, यवा, इस मरुभूमि मे न वनस्पति है, न साँप है, न फल, शायद इन सबका बनाने वाला इस मरुभूमि मे नही है, यहाँ है केवल तुम और मैं और हमारा अकेलापन—और मैंने विवश-भाव से यवा को पास खींच कर घेरते हुए कहा, "तुम्ही जानो, यवा, कैसा लगेगा, मैं तुम्हे बाँधे लेता हूँ इस गुजलक मे—" और यवा ने जैसे बिजली की तरह काँप कर सिमटते-सिमटते कहा, "हाँ बाँध लो मुझे, छा लो, पेड की एक फुनगी तक न दीखे, केवल फल, केवल फल "

और तब मेरे भीतर धक्-धक् करने वाला वह 'कुछ' चीत्कार कर उठा, क्यो मै दयनीय हूँ, क्यो मै छोटा हूँ, क्यो मै अकेला हूँ ·इस मरुभूमि मे और कोई नही है, मैं ही गुजलक हूँ, मैं ही साँप हूँ, मैं ही फल हूँ· और क्यो नही हूँ मैं ही वह बनाने वाला, जिसका नाम हम नही जानते—मैं !

और यवा के भीतर का धक्-धक् ताल देता हुआ बोला, "और मैं !" और एक लहर-सी मेरे ऊपर आयी, डुबा देने वाली, घोट देने वाली, तहस-नहस करने वाली, यह आकाश का जलता हुआ लाल फल और अन्य अनगिनत फल—जो कुछ मैं देखता और जानता हूँ सब कुछ—जैसे मुझे रौंदता हुआ और सींचता हुआ चला गया और यवा को बाँधे-छिपाये हुए मुझे लगा कि मैं ही बनाने वाला हूँ—

और तब—

नही, यवा, नही ! हम नगे है ! नगे है ! और मैंने सहसा परे हटकर अपना मुँह जमीन मे छिपा लिया, जी होने लगा कि समूची देह उसी मे धँस जाये। और यवा भी मुँह फेर कर धीरे-धीरे रोने लगी·

3

यह जो मेरे भीतर और यवा के भीतर निरन्तर धक्-धक् किया करता है, क्या यही उस बनाने वाले के पैर की प्रकृति की वह खोखल नही है जिससे कन्दरा का बनाने वाला पहचाना जाता है? साँप के आगे मेरी हार हुई है, लेकिन मै जानता हूँ कि साँप ने झूठ कहा था, मै जानता हूँ कि बनाने वाला एक है और निश्चय है ''उसकी छाया भी मेरे भीतर है और यवा के भीतर, और निस्सन्देह उस अनिष्ट साँप के भीतर'''

लेकिन यह यवा मे क्या नयी बात प्रकट हुई है? मेरे और यवा के बनाने वाले के और उस के प्रतिस्पर्धी साँप के बीच यह एक नया डर और नया आग्रह कैसा देखता हूँ, जो यवा की आँखो मे काँपा करता है?

यवा, सच बताओ, मेरे और तुम्हारे, साँप के और सब के नियन्ता के बीच यह चीज क्या है जिसे तुम जानती हो और हम नही? बताओ, तुम्हारा यह डर और चिन्तित उत्कण्ठा कैसी है? किस के लिए तुम कोमलता से भरा करती हो, किस के लिए तुम मुझे भूल-सी जाती हो, पहचानती नही हो, किस के लिए तुम्हारी आँखे सर्दी की बरसात के बाद की-सी धुन्ध से भरकर तैरने-सी लगती है? बताओ मुझे, तुम्हे क्या हो गया है'''

क्या मैंने तुम्हे क्लेश दिया है? पीड़ा पहुँचायी है? लेकिन क्या वैसा मैंने चाहा है? इस अनिष्टकर साँप की देखादेखी मैंने तुम्हे गुजलक मे बाँधना चाहा था अवश्य, और उससे हम दोनो स्तम्भित हुए थे अवश्य, पर वह तो तुम्ही ने जानना चाहा था, और फिर तब तो तुम ऐसी बदली भी नही थी—

यवा, बताओ मुझे वह अन्य कौन है''

मैं जैसे बदल रहा हूँ। कुछ और ही होता जा रहा हूँ। मै नही जानता कि क्या बदल रहा है, पर कुछ फ़र्क हो गया है जरूर। पहले की तरह भागना-दौड़ना और यवा के साथ ऊधम करना अब उतना नही सुहाता, और यवा मे भी जैसे उसका उतना आग्रह नही है। अब मुझे यही अच्छा लगता है कि यवा के आस-पास कही निकट ही रहूँ, भूख होने के समय

यवा को लेकर घूमने के बजाय वही पर खाने को फल-फूल ले आऊँ, यवा के लिए एक बडी-सी कन्दरा बना दूँ और उसके आस-पास फल के पौधे लगा दूँ जिस से दूर जाना ही न पडे···और यवा भी मानो यही चाहती है, जैसे कन्दरा के बनने मे उसका मुझ से अधिक आग्रह है—वह उसके भीतर बैठ कर दिन मे रात के सपने देखना चाहती है···

वही तो शायद सर्दी की धुन्ध की तरह उसकी आँखो मे छाया और जाया करते है, जमा और घुला करते है···पर क्या चीज है वह, जिस को माँग उस धुन्ध के पीछे यवा की आँखो मे झलक जाया करती है, कौन है वह मेरे अतिरिक्त जिसकी चाह यवा करती जान पडती है···

अकसर बादल छाये रहते है, कभी-कभी पानी भी बरसा करता है। यवा अनमनी-सी कन्दरा मे पडी रहती है, और मै अनमना-सा आकाश की ओर देखा करता हूँ। कभी बादल घने हो कर काले पड जाते है, कभी छितरा कर उजले हो जाते है, और थोडी-सी धूप भी चमक जाती है। समझ नही आता कि मेरे इस अपने दो जनो के उद्यान पर क्या बदली छा गयी है जो हम ऐसे हो गये हैं। यवा मुझे अब भी उतनी ही अच्छी और अपनी लगती है, वह भी शान्त विश्वास से आ कर मेरे-द्वारा सहलाये जाने के लिए अपनी ग्रीवा झुका कर बैठ जाया करती है; फिर भी जैसे उस की आँखो की उस धुन्ध मे अस्पष्ट-सा दीख पडनेवाला आकार हर समय हमारे बीच मे बना रहता है ·

और कभी यवा एकाएक थकी और खिन्न हो जाती है, कभी उस का जी कैसा होने लगता है, कभी उस के पीडा होने लगती है···मुझे समझ नही आता कि मै क्या करूँ कि वह फिर पहले-जैसी हो जाये· ·मुझे कुछ भी समझ नही आता, कुछ भी अच्छा नही लगता··

ओ तू—मेरे और यवा के बनाने वाले, मुझे बता कि क्या करूँ, यवा को कैसे सान्त्वना दूँ, कैसे शान्ति पहुँचाऊँ·· मुझे बता, कैसे उस का दर्द दूर हो, कैसे वह कैसे उठे, वह मुझे जाने· ·

यवा भीतर बैठी है और रो रही है। मै उसे बाहर लाना चाहता हूँ, धूप मे बिठाना चाहता हूँ, कोई बूटी खिलाना चाहता हूँ जिस से उसे कुछ

चैन हो, पर वह निकलती नही, उसे कन्दरा का अँधेरा और एकान्त ही पसन्द है, वही की गीली मिट्टी कुरेद कर कभी-कभी वह खा लेती है, यही उसे अच्छा लगता है··· मुझ से सहा नही जाता यह, मेरा जी न जाने कैसा होता है, पर वह मेरा पास रहना भी नही सह सकती, वह मुझे अपने से दूर रखना चाहती हैं, वह कन्दरा के अन्धकार मे मेरी भी दृष्टि से छिपना चाहती है—वल्कि मेरी ही दृष्टि से···

उफ् कुछ समझ नही आता···

ओ तू—मेरे और यवा के वनाने वाले, मुझे वता कि मै क्या करूँ··· यहाँ वाहर बेवस और अकेला बैठकर वादल के टुकड़े गिनने से तो कुछ नही होगा; वता कि उस के अकेलेपन मे और उस वेदना मे मैं कैसे काम आऊँ···

अँधेरे मे शायद मैं सो गया था।

एकाएक एक वडी भेदक चीख सुन कर मैं उठ कर भीतर कन्दरा मे दौडने को हुआ, किन्तु क्या यह चीख यवा की थी ? वैसी चीख तो मैंने यवा के मुँह से कभी नही सुनी थी—क्षण ही भर वाद वह फिर आयी—नहीं यह यवा की नही हो सकती · एक बार और—हाँ, यह यवा की ही पुकार है शायद—

यवा ने सहसा धीमे, दर्द-भरे स्वर मे पुकारा, "आदम !" मैं दौड कर भीतर गया और स्तम्भित खडा रह गया। यवा ने सिमट कर मुँह फेरते हुए सकुचाये-से स्वर मे कहा, "आदम, यह क्या हो गया है···"

मै समझा नही, लेकिन एकाएक मै जान गया, साँप झूठा है, झूठा है, झूठा है, मेरे भीतर धक्-धक् करने वाली शक्ति ही सच है, वनाने वाली है, और एकाएक मै इस सव-कुछ के वनाने वाले का नाम भी जान गया जो साँप कहता था कोई जान ही नही सकता क्योकि वह है नही—स्रष्टा ! मैंने जान लिया है कि मैं ही स्रष्टा हूँ···और मैने पुकार कर कहा, "यवा, ठहरो, मै जान गया हूँ कि स्रष्टा को छिपा कर ही जिया जा सकता है, सव से छिप कर ही उस से मिलना सम्भव है···"

मैं एकाएक वाहर दौड गया, अँधेरे मे ही मैंने सेमल का पेड़ खोज

कर उस के ढेर से फूल तोड कर एक लता की डाल मे गूँथ कर बाँध लिये; लौट कर वह आवरण यवा के और उस की छाती पर चिमट कर पडे हुए मेरे प्रतिरूप एक अत्यन्त छोटे-से आदम के ऊपर ओढा दिया ।

यवा ने सिहर कर कहा, "हाँ, मेरे आदम, इसी तरह गुजलक मे मुझे बाँध दो, छा लो समूचे पेड को, कि कुछ भी न दीखे—एक फुनगी तक नही । केवल फल—केवल फल· "

और छाती से मेरी सृष्टि को चिपटाये हुए और सब तरफ से आवृत्त यवा की हँसी से चमक गये दाँत देख कर मैंने सदा के लिए जान लिया कि साँप झूठा है, कि स्रष्टा है, कि एकता है···

वसन्त

मधुर कण्ठ वाली एक स्त्री, जो गाती हुई प्रवेश करती है। उस का स्वर आज की सिनेमा आर्टिस्ट का सधा-बँधा स्वर नही है, जो 'प्रीफैब' सिमेण्ट की चौरस सिल्ली की तरह नपा-खिचा मगर बिल्कुल ठस होता है, यानी जो होता है उस से अधिक कुछ नही होता—सब कुछ सामने है और जो सामने नही है वह हुई नही—बल्कि सामने भी क्या है? एक ठप्पे की छाप। उस का स्वर बिल्लौर की तरह पारदर्शी है, जिस के भीतर रगीन कहानियाँ दीखती है, आगे और पीछे की कहानियाँ, उजली और फीकी छायाएँ, और सब पारदर्शी · जैसे चन्द्रकान्तमणि के अन्दर चाँदनी दूधिया ओस-सी जम गयी हो।

पहला वसन्त, जिस का स्वर एक हँसते युवक का स्वर है, जो जब बोलता है तो साथ-साथ कई बाँसुरियाँ बज उठती है, बड़ी द्रुत लय से मानो उन का पलातक संगीत पकड़ मे तो आने का नही, उस के पीछे दौडना भी व्यर्थ है, हाँ, कोई अपनी भावनाएँ भी उसके पास साथ-साथ छोड दे तो छोड दे।

दूसरा वसन्त, जैसे अनुभवो की दोहर ओढे भारी पैरों से चलने वाला, भारी गले से बोलने वाला अग्रज, उस का धीमा गुरु-स्वर मानो इसराज का मन्द्र एकस्वर है, और प्रत्येक शब्द को तोल-तोल कर, श्रोता की आत्मा मे उसे बैठा देता हुआ-सा बोलता है।

स्त्री गाती है—

"फूल काँचनार के
प्रतीक मेरे प्यार के
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली
पत्तियो का सम्पुट, निवेदिता ज्यो अंजली

आये फिर दिन मनुहार के, दुलार के···
फूल काचनार के।"

तव बाँसुरी का तीखा स्वर द्रुत लय पर दौडता हुआ आता है और तुरन्त ही खो जाता है।

स्त्री · "अरे कौन ?"

पहला वसन्त : "मैं वसन्त।" फिर बाँसुरी का स्वर।

स्त्री : "कौन वसन्त ?"

वसन्त १ : "यह भी बताना होगा ? सुनो···"

फिर द्रुत लय पर बाँसुरी जिस मे प्राण ललक उठे, लेकिन सुनते-सुनते उस का स्वर खो जाता है।

वसन्त १ · "सुना ? अव पहचानती हो ?"

स्त्री "अम्-म्-म् "

वसन्त १ · "मैं वह हूँ जो मलय समीर के हर झोके मे आकर तुम्हारी अलको को सहला जाता है। सरसो के फूल मे मेरा ही रग खिलता है, आम्रमजरी मे मेरा ही आह्लाद उमँगता है। मैं कोयल के स्वर से तुम्हे—तुम्हे क्यो, प्राणिमात्र को—पुकारता हूँ कि देखो, अव समय वदल गया। दिन भी अपनी निरन्तर सिकुडन छोड कर साहसपूर्वक वढने लगा। जिस सूर्य से जीवमात्र और सव वनस्पतियाँ शक्ति पाती है, वह स्वय इतने दिनों की निस्तेज क्लान्ति के वाद फिर दीप्त होने लगा। केवल वाहर ही नही, तुम्हारे शरीर की शिरा-शिरा मे, तुम्हारे अगो के स्फुरण मे, तुम्हारे मन के उत्साह मे मेरा स्वर बोलता है ·"

फिर वही बाँसुरी का स्वर, मानो निहोरे करता हुआ, वैसी ही पहले वसन्त की आवाज मानो उस की मनुहार सुननी ही पडेगी, उस से कोई वच कर निकल जायेगा तो कैसे ? धीरे-धीरे, प्राणो को आविष्ट करता हुआ-सा, वह गाता है :

"सुनो सखी, सुनो वन्धु !
प्यार ही मे यौवन है, यौवन मे प्यार।
जागो, जागो,
जागो सखि वसन्त आ गया !"

और स्त्री भी विवश साथ-साथ गुनगुनाने लगती है :

"वसन्त आ गया—
आज डाल-डाल पै आनन्द छा गया···"

तव, पीछे कहीं, धीरे-धीरे इसराज मन्द्र वज उठता है, पहले वहुत धीरे, फिर क्रमशः स्पष्ट, मानो उसे अव अपनी वात पर विश्वास हो आया हो···इतना कि अव वह हर किसी को अपनी वात मनवा कर ही छोड़ेगा। स्त्री सहसा चौंक पड़ती है।

स्त्री : "कौन ?"

दूसरा वसन्त : "मैं वसन्त।"

स्त्री : "वसन्त तुम ? वसन्त तो मेरे साथ गा रहा है। सुनो सखी, सुनो वन्धु···"

वसन्त २ : "हाँ, ठीक तो है, सुनो सखी, सुनो वन्धु ! वसन्त जरूर आ गया। तुम पूछती हो, कौन वसन्त ? क्या तुम ने लक्ष्य नही किया कि सवेरा जल्दी होने लगा, तुम्हे काम जल्दी आरम्भ करना पडता है ? क्या तुम ने नही देखा कि पिछली वरसात मे वनस्पतियो ने जो हरी चादर ओढ ली थी, शरद् ने जिस मे शेफाली की वूटियाँ काढी थी, जो जाडो मे हरे रेशमी वसन से वदल कर लाल और भूरा दुशाला वन गयी थी, वही आज जीर्ण-शीर्ण हो कर, तार-तार हो कर झर रही है ? वह पतझड मैं हूँ। जो सनसनाती हुई ठण्डी हवा वनस्पतियों के सव आवरण उडाये ले जा रही है, वह मैं हूँ। सवेरे-सवेरे झाड़ू की मार से उडी हुई धूल मैं हूँ। धूल का झक्कड मैं हूँ। सुवह की धुन्ध मैं हूँ। शाम को क्षितिज पर जमा हुआ धुआँ मैं हूँ। वाहर ही नही, मै भीतर की हताशा हूँ कि 'एक वर्ष और गुजर गया !' मै आतंक हूँ आने वाले ग्रीष्म की सनसनाती हुई लू के फून्कारों से उडती हुई गरम रेत का···"

स्त्री : "ओह ! ओह !"

द्रुत लय पर वाँसुरी और विलम्वित पर इसराज वारी-वारी से वजने लगते हैं। एक स्वर उभरता है और डूवता है, फिर दूसरा उभरता है और पहला डूव जाता है। ये स्वर हैं, या कि भावो की धूप-छाँह ही स्त्री के मुँह पर खेल कर रही है ?

वसन्त १ "मै तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूँ। मैं तुम्हारा भविष्य, भविष्य की आशा हूँ।"

वसन्त २ "मै भी तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूँ। मै तुम्हारा अतीत हूँ और अतीत का अनुभव। क्या आने वाले कल की आशा ही स्वप्न होती है, क्या जो आशाएँ बीत गयी है वे स्वप्न नही है?"

वसन्त १ : "मै वह हूँ जो तुम हो सकती थी—"

वसन्त २ "मै वह हूँ जो तुम हो।"

वसन्त १ "मै वह हूँ जो तुम हो सकती हो ' "

वसन्त २ "थी भी, और होगी भी, तो फिर आज क्यो नही हो? [तिरस्कारपूर्वक] 'सुनो सखी, सुनो बन्धु?' अगर बहरा होना ही सुनना है, तो जरूर सुनो!"

फिर इसराज और बाँसुरी, विलम्बित और द्रुत, कौन पहचाने कि कौन स्वर उभरता है और कौन डूबता, क्योंकि फीकी धूप ही हलकी छाँह है, और फीकी छाँह ही नयी चमक, और ''धीरे-धीरे दोनो ही लीन हो जाते हैं, मानो अस्तित्व के उस तल पर से अब उतर आना होगा जिस पर वसन्त—पहला और दूसरा वसन्त—मूर्त हो कर, वाणीयुक्त होकर सामने आते है। इस निचले स्तर पर तो वसन्तो के सगीतमय सुर नही, बरतनो की खनखनाहट है नये मँजते और धुलते हुए बरतन, धोकर ताक मे रखे जाते हुए बरतन। यह दूसरा ही दृश्य है, और स्त्री की बात मानो स्वगत भाषण है।

स्त्री "मैं वह हूँ जो तू है। मै वह हूँ जो तू हो सकती है—मैं वह हूँ जो तू थी। मै वह हूँ जो तू होगी—लेकिन मै क्या थी—क्या हूँगी··· क्या हूँ? शायद उसे नही सोचना चाहिए। नही तो इतने वर्षो से इसी एक प्रश्न का उत्तर देना क्यो टालती आयी हूँ? क्या थी—फूल, या मिट्टी? क्या हूँगी—मिट्टी, या फूल? एक बार—एक बार सोचा था··· लेकिन क्या सचमुच था? इतनी पुरानी बात लगती है कि सन्देह होता है लेकिन जल्दी करूँ, पानी चला जायेगा।"

और ठीक उसी समय स्त्री का पति प्रवेश करता है। पति-जैसा ही उस का स्वर है, साधारण, न रूखा न मीठा, जिस मे कुछ अपनापा भी

है, कुछ उदासीनता भी, लेकिन क्या अपनापा और उदासीनता प्यार के परिचय के ही दो पहलू नही है ?

पति : "मालती।"

स्त्री : "जी।"

पति : [चिढाता हुआ] "अगर मै बाहर ही खडा रहता, तो सोचता कि न जाने कौन तुम से बाते कर रहा है। यह क्या पता था कि आप जूठे बरतनों से भी बाते कर सकती है।"

स्त्री : "नही हाँ···"

पति : "यानी इतनी तन्मय हो कर बात कर रही थी कि तुम्हे मालूम ही नही ? कौन था आखिर वह मन-मोहन सुध-बिसरावन···कौन आया था ?"

स्त्री : [अनमनी-सी] "वसन्त।"

पति : [न समझते हुए] "कौन वसन्त ?"

स्त्री : "यह तो मै नही जानती ? [धीरे-धीरे] वह कहता था, मै मलय-समीर मे रहता हूँ और कोयल के स्वर से पुकारता हूँ। कहता था, वह सरसो के फूल के रग मे है। [कुछ रुक कर, और भी अनमनी, खोयी-सी]

नही, वह कहता था, मै पतझड हूँ। और धूल का झक्कड़। और निराशा।"

पति : "मालती, मालूम होता है तुम बहुत थक गयी हो। क्या करूँ सोचता तो बहुत दिनो से हूँ कि कुछ छुट्टी ले कर घूम आये, लेकिन मौका ही नही बनता। न छुट्टी ही मिलती है, न कोई सहूलियत—"

स्त्री : [सहानुभूति से तिलमिला कर] "रहने भी दो, मुझे क्या करनी है छुट्टी ? थकते तो मर्द है, स्त्री कभी नही थकती है। काम और विश्राम —यह मर्द की ईजाद है। स्त्रियाँ विश्राम नही करती, क्योकि वे शायद काम नही करती। वे कुछ करती ही नही वे शायद सिर्फ होती ही हैं। बालिका से किशोरी, कुमारी से पत्नी, बेटी से माँ, एक निस्सग आत्मा से परिगृहीत कुनबा—वे निरन्तर कुछ-न-कुछ होती ही चलती है। क्योकि वे है कुछ नही, वे केवल होते चलने का, बनने मे नष्ट होते चलने का, या

कि कह लो नष्ट होते रहने मे वनने का, दूसरा नाम है। वे भविष्य है जो कि पीछे छूट गया, एक अतीत है जो कि आगे मुँह वाये वैठा है ··"

पति [कुछ त्रस्त स्वर मे] "मालती, क्या तुम सुखी नही हो ? [पीडित-सा] लेकिन शायद मेरा यह पूछना भी अन्याय है। मै तुम्हे कुछ दे ही तो नही सका। यह तो नही कि मैने चाहा नही। लेकिन चाहना ही तो काफी नही है, सकत भी तो चाहिए। [सहसा नये विचार के उत्साह से] चलो, कही घूम आये—या चलो मिनेमा चले—"

स्त्री "उँहूक्। सिनेमा मे मेरा दम घुटता है।"

पति · "तो चलो, कही वाग मे चले। या वाहर खेतो की तरफ। आजकल नदी की कछार पर सरसो खूब फूल रही है। वीच-वीच मे कही अलसी के नीले फूल—"

नेपथ्य मे कही धीरे-धीरे वही वाँसुरी वजने लगती है। मानो स्मृति को जगाती हुई, मानो पुरानी वात दुहराती हुई।

स्त्री . [मानो स्वगत] "वह कहता था, सरसो के फूल मे मेरा ही रंग खिलता है। और आम के वौर मे ··"

पति "क्या गुनगुना रही हो, मालती ? तुम्हे याद है, उस वार जव मैं "

स्त्री : "कव ?"

पति "वनो मत। उस वार जव गौने के वाद तुम आयी ही थी, और मैने कहा था कि···"

स्त्री . [मानो स्तब्ध-सी और न पसीजती हुई] "मुझे कुछ याद नही है। मैं तो सोचती हूँ, यह याद भी मर्दो की ईजाद है। उन के लिए भूलना इतना सहज सत्य जो है।"

एक वालक उन का वालक उस का वालक। वालको के स्वर का वर्णन हो भी सकता हो तो नही करना चाहिए, उस मे जो अकल्पित सम्भावनाएँ मचलती है उन्हे वाँध देने का यत्न क्यो किया जाये ? वह निकट आ रहा है और वे सम्भावनाएँ मानो एक झलक-सी दे जाती है···

वालक · "माँ—माँ !"

पति "यह लो आ गया ऊधमी ! अच्छा तो तुम जल्दी से उठो, मैं

अभी-अभी तैयार हो जाता हूँ—हाँ ?"

वालक : "माँ—माँ !"

स्त्री : "क्या है, वेटा ?"

वालक : "माँ, सव लड़के कह रहे हैं कि आज वसन्त है, आज पतंग उड़ाने का नियम है।"

स्त्री : "हुँ. नियम है ! पतंग नही उड़ाया करते अच्छे लड़के।"

वालक : क्यो, माँ ? मुझे तो पतग वहुत अच्छी लगती है···"

स्त्री : "न ! उड जाने वाली चीजो को प्यार नही करना चाहिए। छोड़ कर चली जा ी हैं तो दुःख होता है।"

वालक : "वह उड थोड़े ही जायेगी ? मै फिर उतार लूँगा—मेरे पास ही तो रहेगी ··"

स्त्री : "मै पतंग होती तो उड़ जाती, दूर-दूर। फिर कभी वापस न आती।"

वालक : [आहत] "हमे छोड़ जाती, माँ ?"

स्त्री : "तो क्या हुआ ? तुम तो अपनी पतंग में मस्त रहते, तुम्हे ध्यान ही न आता।"

वालक : "नही माँ, मुझे तो वहुत अच्छी लगती हो। मुझे नही चाहिए पतंग-वतंग, मै तुम्हारे पास वैठूंगा।"

स्त्री : "अरे छोड़ मुझे·· दगा न कर। जा, पिताजी के साथ जा कर वगीचा देख आ।"

वालक : "वहाँ क्या है ?"

स्त्री : [जैसे याद करती हुई] "है क्या ? वहाँ सुन्दर फूल हँसते है··· वहाँ कोयल कूकती है···वही तो वसन्त है।"

वालक . [मानस-भरा] हमे नही चाहिए वहाँ का वसन्त। हमारा वसन्त तो तुम हो, माँ···तुम हँसती क्यो नही ? अरे, तुम तो उदास हो गयी..."

स्त्री : (सोचती हुई) "यह तो उन दोनो ने नही कहा था···वह कहता था मै आशा हूँ, वसन्त मै हूँ। वह कहता था मै अनुभव हूँ, वसन्त मै हूँ। मुझे तो किसी ने नही कहा कि वसन्त तुम हो· ·फूलो का खिलना भी

और पतझड भी, समीर भी और धूल का झक्कड भी ·"

बालक : "माँ—किस ने कहा था, माँ ?"

स्त्री · "किसी ने नहीं बेटा, मेरी चेतना ने। तू तो केवल पतग का वसन्त जानता है, मगर मुझ मे बहुत से वसन्त है, कुछ मीठे, कुछ फीके, कुछ हँसते, कुछ उदास ।"

बालक : "उन सब मे सब से अच्छा कौन-सा है, माँ ?"

स्त्री : [सहसा मुग्ध होकर] "सब से अच्छा वसन्त तू है, बेटा। तू हँसता रह, फूल-फल · "

और अब नेपथ्य मे बाँसुरी क्रमश स्पष्ट होने लगती है। मानो अब वह स्पष्ट हो जायेगी तो फिर मन्द नही पडेगी, फिर बजती ही रहेगी, उस मे नया धीरज जो आ गया है।

बालक "वाह। मैं कोई पौधा हूँ "

स्त्री . "हाँ, यह तू क्या जाने। तू मेरी सारी आशाओ का, सारे अनुभव का पौधा है, मेरे युगो-युगो का वसन्त ।"

बाँसुरी बिलकुल स्पष्ट बजने लगती है, अपने आत्म-विश्वास से वातावरण को गुँजाती हुई, उस के प्राणो मे अपने स्वर को बसा देती हुई । और बाँसुरी के साथ-साथ गान के शब्द भी स्पष्ट होने लगते हैं—

"किंशुको की आरती सजा के बन गयी वधू वनस्थली ।
डाल-डाल रग छा गया।
जागो, जागो
जागो सखि वसन्त आ गया !"

•

हीली-वोन् की बत्तखें

हीली-वोन् ने बुहारी देने का ब्रुश पिछवाड़े के बरामदे के जंगल से टेक कर रखा और पीठ सीधी कर के खड़ी हो गयी। उस की थकी-थकी-सी आँखें पिछवाड़े के गीली लाल मिट्टी के काई-ढके किन्तु साफ फर्श पर टिक गयी। काई जैसे लाल मिट्टी को दीखने दे कर भी एक चिकनी झिल्ली से उसे छाये हुए थी; वैसे ही हीली-वोन् की आँखों पर भी कुछ छा गया जिस के पीछे आँगन के चारों ओर तरतीब से सजे हुए जरेनियम के गमलों, दो रंगीन बेत की कुरसियों और रस्सी पर टँगे हुए तीन-चार धुले हुए कपड़ों की प्रतिच्छवि रह कर भी न रही। और कोई और गहरे देखता तो अनुभव करता कि सहसा उस के मन पर भी कुछ शिथिल और तन्द्रामय छा गया है, जिस से उस की इन्द्रियों की ग्रहणशीलता तो ज्यों-की-त्यों रही है पर गृहीत छाप को मन तक पहुँचाने और मन को उद्वेलित करने की प्रणालियाँ रुद्ध हो गयी हैं...

किन्तु हठात् वह चेहरे का चिकना बुझा हुआ भाव खुरदुरा हो कर तन आया, इन्द्रियाँ सजग हुईं, दृष्टि और चेतना केन्द्रित, प्रेरणा प्रबल— हीली-वोन् के मुँह से एक हलकी-सी चीख निकली और वह बरामदे से दौड़ कर आँगन पार कर के एक ओर बने हुए छोटे-से बाड़े पर पहुँची; वहाँ उस ने बाड़े का किवाड़ खोला और फिर ठिठक गयी। एक और हलकी-सी चीख उसके मुँह से निकल रही थी, पर वह अध-बीच में ही स्वर-हीन हो कर एक सिसकती-सी लम्बी साँस बन गयी।

पिछवाड़े से कुछ ऊपर की तरफ पहाड़ी रास्ता था, उस पर चढ़ते हुए व्यक्ति ने वह अनोखी चीख सुनी और रुक गया। मुड़ कर उस ने हीली-वोन् की ओर देखा, कुछ झिझका, फिर जरा बढ़ कर बाड़े के बीच के छोटे-से बाँस के फाटक को ठेलता हुआ भीतर आया और विनीत भाव से बोला,

"खू-ब्लाई !"

हीली-त्रोन् चौंकी। 'खू-ब्लाई' खासिया भाषा का 'राम-राम' है, किन्तु यह उच्चारण परदेसी है और स्वर अपरिचित—यह व्यक्ति कौन है? फिर भी खासिया जाति के सुलभ आत्म-विश्वास के साथ तुरन्त सँभलकर और मुसकरा कर उसने उत्तर दिया, "खू-ब्लाई !" और क्षणभर रुक कर फिर कुछ प्रश्न-सूचक स्वर मे कहा, "आइए ! आइए !"

आगन्तुक ने पूछा, "मै आप की कुछ मदद कर सकता हूँ? अभी चलते-चलते—शायद कुछ—"

"नही, वह कुछ नही"—कहते-कहते हीली का चेहरा फिर उदास हो आया। "अच्छा, आइए, देखिए।"

बाडे की एक ओर आठ-दस बत्तखे थी। बीचोबीच फर्श रक्त से स्याह हो रहा था और आस-पास बहुत-से पंख बिखर रहे थे। फर्श पर जहाँ-तहाँ पजो और नाखूनो की छापे थी।

आगन्तुक ने कहा, "लोमडी।"

"हाँ। यह चौथी बार है। इतने बरसो मे कभी ऐसा नही हुआ था, पर अब दूसरे-तीसरे दिन एक-आध बत्तख मारी जाती है और कुछ उपाय नही सूझता। मेरी बत्तखो पर मण्डल के सारे गाँव ईर्ष्या करते थे—स्वय 'सियेम' के पास भी ऐसा बढिया झुण्ड नही था! पर अब—" हीली चुप हो गयी।

आगन्तुक भी थोड़ी देर चुपचाप फर्श को और बत्तखो को देखता रहा। फिर उसने एक बार सिर से पैर तक हीली को देखा और मानो कुछ सोचने लगा। फिर जैसे निर्णय करता हुआ बोला, "आप ढिठाई न समझे तो एक बात कहूँ?

"कहिए।"

"मै यहाँ छुट्टी पर आया हूँ और कुछ दिनो नाङ्-ख्लेम ठहरना चाहता हूँ। शिकार का मुझे शौक है। अगर आप इजाजत दे तो मै इस डाकू की घात मे बैठूँ—" फिर हीली की मुद्रा देख कर जल्दी से, "नही, मुझे कोई कष्ट नही होगा, मै तो ऐसा मौका चाहता हूँ। आप के पहाड बहुत सुन्दर है, लेकिन लडाई से लौटे हुए सिपाही को छुट्टी मे कुछ शगल चाहिए।"

"आप ठहरे कहाँ हैं ?"

"बँगले में। कल आया था, पाँच-छह दिन रहूँगा। सवेरे-सवेरे घूमने निकला था, इधर ऊपर जा रहा था कि आप की आवाज सुनी। आप का मकान बहुत साफ़ और सुन्दर है—"

हीली ने एक रूखी-सी मुसकान के साथ कहा, "हाँ, कोई कचरा फैलाने वाला जो नही है ! मै यहाँ अकेली रहती हूँ।"

आगन्तुक ने फिर हीली को सिर से पैर तक देखा। एक प्रश्न उस के चेहरे पर झलका, किन्तु हीली की शालीन और अपने मे सिमटी-सी मुद्रा ने जैसे उसे पूछने का साहस नही दिया। उस ने बात बदलते हुए कहा, "तो आप की इजाजत है न ? मै रात को बन्दूक ले कर आऊँगा। अभी इधर आस-पास देख लूँ कि कैसी जगह है और फिर किधर से किधर गोली चलायी जा सकती है।"

"आप शौकिया आते है तो ज़रूर आइए। मै इधर को खुलने वाला कमरा आप को दे सकती हूँ—" कह कर उस ने घर की ओर इशारा किया।

"नही नही, मैं बरामदे मे बैठ लूँगा—"

"यह कैसे हो सकता है ? रात को आँधी-बारिश आती है। तभी तो मैं कुछ सुन नहीं सकी रात ! वैसे आप चाहे तो बरामदे मे आरामकुरसी भी डलवा दूँगी। कमरे मे सब सामान है।" हीली कमरे की ओर बढी, मानो कह रही हो, "देख लीजिए।"

"आप का नाम पूछ सकता हूँ ?"

"हीली-बोन् यिर्वा। मेरे पिता सियेम के दीवान थे।"

"बडी ख़ुशी हुई। आइये—अन्दर बैठेगे।"

"धन्यवाद—अभी नही। आप की अनुमति हो तो शाम को आऊँगा। खू-ब्लाई—"

हीली कुछ रुकते स्वर मे बोली, "खू-ब्लाई।" और बरामदे मे मुड़ कर खड़ी हो गयी। कैप्टेन दयाल बाड़े मे-से बाहर हो कर रास्ते पर हो लिये और ऊपर चढने लगे, जिधर नयी धूप मे चीड़ की हरियाली दुरंगी हो रही थी और बीच-बीच मे बुरूस के गुच्छे-गुच्छे गहरे लाल फूल मानो कह रहे थे, पहाड़ के भी हृदय है···

2

दिन मे पहाड की हरियाली काली दीखती है, ललाई आग-सी दीप्त; पर साँझ के आलोक मे जैसे लाल ही पहले काला पड जाता है। हीली देख रही थी, बुरूस के वे इक्के-दुक्के गुच्छे न जाने कहाँ अन्धकार-लीन हो गये है, जब कि चीड के वृक्षो के आकार अभी एक-दूसरे से अलग स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। क्यो रग ही पहले बुझता है, फूल ही पहले ओझल होते है, जब कि परिपार्श्व की एकरूपता बनी रहती है ?"

हीली का मन उदास हो कर अपने मे सिमट आया। सामने फैला हुआ नाङ्-ख्लेम का पर्वतीय सौन्दर्य जैसे भाप बन कर उड गया, चीड और बुरूस, चट्टाने, पूर्वपुरुषो और स्त्रियो की खडी और पडी स्मारक शिलाएँ, घास की टीलो-सी लहरे, दूर नीचे पहाडी नदी का ताम्र-मुकुर, मखमली चादर मे रेशमी डोरे-सी झलकती हुई पगडण्डी—सब मूर्त आकार पीछे हट कर तिरोहित हो गये। हीली की खुली आँखे भीतर की ओर को ही देखने लगी—जहाँ भावनाएँ ही साकार थी, और अनुभूतियाँ ही मूर्त···

हीली के पिता उस छोटे-से माण्डलिक राज्य के दीवान रहे थे। हीली तीन सन्तानो मे सबसे बडी थी, और अपनी दोनो बहनो की अपेक्षा अधिक सुन्दर भी। खासियो का जाति-संगठन स्त्री-प्रधान है; सामाजिक सत्ता स्त्री के हाथो मे है और वह अनुशासन मे चलती नही, अनुशासन को चलाती हैं। हीली भी मानो नाङ्-ख्लेम की अधिष्ठात्री थी। 'नाङ्-क्रेम' के नृत्योत्सवमे, जब सभी मण्डलो के स्त्री-पुरुष खासिया जाति के अधिदेवता नगाधिपति की बलि देते थे और उस के म॰॰ प्रतिनिधि अपने 'सियेम' का अभिनन्दन करते थे, तब नृत्यमण्डली मे हीली मौन सर्वसम्मति से नेत्री हो जाती थी, और स्त्री-समुदाय उसी का अनुसरण करता हुआ झूमता था, इधर और उधर, आगे और दाये और पीछे···नृत्य मे अंग-संचालन की गति न द्रुत थी न विस्तीर्ण, लेकिन कम्पन ही सही, सिहरन ही सही, वह थी तो उस के पीछे-पीछे, सारा समुद्र उस की अग-भगिमा के साथ लहरें लेता था

एक नीरस-सी मुसकान हीली के चेहरे पर दौड गयी। वह कई बरस

पहले की बात थी···अब वह चौतीसवाँ वर्ष बिता रही है; उसकी दोनों बहनें व्याह कर के अपने-अपने घर रहती है; पिता नही रहे और स्त्री-सत्ता के नियम के अनुसार उन की सारी सम्पत्ति सब से छोटी बहन को मिल गयी। हीली के पास है यही एक कुटिया और छोटा-सा बगीचा—देखने मे आधुनिक साहबी ढंग का बँगला, किन्तु उस काँच और परदो के आडम्बर को सँभालने वाली इमारत वास्तव मे क्या है? टीन की चादर से छूता हुआ चीड का चौखटा, नरसल की चटाई पर गारे का पलस्तर और चारो ओर जरेनियम, जो गमले मे लगा लो तो फूल है, नही तो निरी जगली बूटी··

यह कैसे हुआ कि वह, 'नाङ्-क्रेम' की रानी, आज अपने चौंतीसवे वर्ष में इस कुटी के जरेनियम के गमले सँवारती बैठी है, और अपने जीवन मे ही नही, अपने सारे गाँव मे अकेली है?

अभिमान? स्त्री का क्या अभिमान! और अगर करे ही तो कनिष्ठा करे जो उत्तराधिकारिणी होती है—वह तो सब से बडी थी, केवल उत्तर-दायिनी! हीली के ओठ एक विद्रूप की हँसी से कुटिल हो आये। युद्ध की अशान्ति के इन तीन-चार वर्षो मे कितने ही अपरिचित चेहरे दीखे थे, अनोखे रूप, उल्लसित, उच्छ्वसित, लोलुप, गर्वित, याचक, पाप-संकुचित, दर्प-स्फीत मुद्राएँ···और वह जानती थी कि इन चेहरो और मुद्राओ के साथ उस के गाँव की कई स्त्रियो के सुख-दुःख, तृप्ति और अशान्ति, वासना और वेदना, आकाक्षा और सन्ताप उलझ गये थे, यहाँ तक कि वहाँ के वातावरण मे एक पराया और दूपित तनाव आ गया था। किन्तु वह उस से अछूती ही रही थी। यह नही कि उस ने इस के लिए कुछ उद्योग किया था या कि उसे गुमान था—नही, यह जैसे उस के निकट कभी यथार्थ ही नही हुआ था।

लोग कहते थे कि हीली सुन्दर है, पर स्त्री नही है। वह बाँबी क्या, जिस मे साँप नही बसता?···हीली की आँखे सहसा और भी घनी हो आयी—नही, इस से आगे वह नही सोचना चाहती! व्यथा मर कर भी व्यथा से अन्य कुछ हो जाती है? बिना साँप की बाँबी—अपरूप, अनर्थक मिट्टी का ढूह! यद्यपि, वह याद करना चाहती तो याद करने को कुछ

था—बहुत कुछ था—प्यार उसने पाया था और उसने सोचा भी था कि—

नही, कुछ नही सोचा था। जो प्यार करता है, जो प्यार पाता है, वह क्या कुछ सोचता है ? सोच सब बाद मे होता है, जब सोचने को कुछ नही होता।

और अब वह बत्तखे पालती है। इतनी बडी, इतनी सुन्दर बत्तखे खासिया प्रदेश मे और नही है। उसे विशेष चिन्ता नही है, बत्तखो के अण्डो से इस युद्धकाल मे चार-पाँच रुपये रोज की आमदनी हो जाती है, और उस का खर्च ही क्या है ? वह अच्छी है, सुखी है, निश्चिन्त है—

लोमडी किन्तु वह कुछ दिन की बात है—उन का तो उपाय करना ही होगा। वह फौजी अफसर जरूर उसे मार देता—नही तो कुछ दिन बाद थेड्-क्यू के इधर आने पर वह उसे कहेगी कि तीर से मार दे या जाल लगा दे कितनी दुष्ट होती है लोमड़ी—क्या रोज दो-एक बत्तख खा सकती है ? व्यर्थ का नुकसान—सभी जन्तु जरूरत से ज्यादा घेर लेते और नष्ट करते है—

बरामदे के काठ के फर्श पर पैरो की चाप सुन कर उस का ध्यान टूटा। कैप्टेन दयाल ने एक छोटा-सा बेग नीचे रखते हुए कहा, "लीजिए, मै आ गया।" और कन्धे से बन्दूक उतारने लगे।

"आप का कमरा तैयार है। खाना खायेगे ?"

"धन्यवाद—नही। मै खा आया। रात काटने को कुछ ले भी आया बेग मे ! मैं जरा मौका देख लूँ, अभी आता हूँ। आप को नाहक तकलीफ दे रहा हूँ लेकिन—"

हीली ने व्यग्यपूर्वक हँस कर कहा, "इस घर मे न सही, पर खासिया घरो मे अकसर पलटनिया अफसर आते है—यह नही हो सकता कि आप को बिलकुल मालूम न हो।"

कैप्टेन दयाल खिसिया-से गये। फिर धीरे-धीरे बोले, "नीचे वालो ने हमेशा पहाड वालो के साथ अन्याय ही किया है। समझ लीजिए कि पाताल-वासी शैतान देवताओ से बदला लेना चाहते है।"

"हम लोग मानते है कि पृथ्वी और आकाश पहले एक थे—पर दोनों

को जोड़ने वाली धमनी इनसान ने काट दी। तब से दोनो अलग है और पृथ्वी का घाव नही भरता।"

"ठीक तो है।"

कैप्टेन दयाल वाड़े की ओर चले गये। हीली ने भीतर आ कर लैम्प जलाया ओर वरामदे मे ला कर रख दिया; फिर दूसरे कमरे मे चली गयी।

3

रात मे दो-अढाई वजे वन्दूक की 'धाँय !' सुन कर हीली जागी, और उस ने सुना कि वरामदे मे कैप्टेन दयाल कुछ खटर-पटर कर रहे है। शब्द से ही उस ने जाना कि वह वाहर निकल गये है, और थोडी देर वाद लौट आये है। तव वह उठी नही, लोमडी जरूर मर गयी होगी और उसे सवेरे भी देखा जा सकता है, यह सोच कर फिर सो रही।

किन्तु पौ फटते-न-फटते वह फिर जागी। खासिया प्रदेश के वँगलों की दीवारे असल मे तो केवल काठ के परदे ही होते है; हीली ने जाना कि दूसरे कमरे मे कैप्टेन दयाल जाने की तैयारी कर रहे है। तव वह भी जल्दी से उठी, आग जला कर चाय का पानी रख, मुँह-हाथ धो कर वाहर निकली। क्षण-भर अनिश्चय के वाद वह वत्तखो के वाड़े की तरफ जाने को ही थी कि कैप्टेन दयाल ने वाहर निकलते हुए कहा, "खू-ब्लाई, मिस यिर्वा; शिकार जख्मी तो हो गया पर मिला नही, अव खोज मे जा रहा हूँ।"

"अच्छा ? कैसे पता लगा ?"

"खून के निशानो से। जख्म गहरा ही हुआ है—घिसट कर चलने के के निशान साफ दीखते थे। अव तक वचा नही होगा—देखना यही है कि कितनी दूर गया होगा।"

"मैं भी चलूँगी। उस डाकू को देखूँ तो—" कहकर हीली लपक कर एक वड़ी 'डाओ' उठा लायी और चलने को तैयार हो गयी।

खून के निशान चीड़ के जंगल को छू कर एक ओर मुड़ गये, जिधर ढलाव था और आगे जरैत की झाड़ियाँ, जिन के पीछे एक छोटा-सा झरना बहता था। हीली ने उसका जल कभी देखा नही था, केवल कल-कल शब्द ही सुना था—जरैत का झुरमुट उसे विलकुल छाये हुए था। निशान झुरमुट

तक आ कर लुप्त हो गये थे।

कैप्टेन दयाल ने कहा, "इसके अन्दर घुसना पडेगा। आप यही ठहरिए।"

"उधर ऊपर से शायद खुली जगह मिल जाये—वहाँ से पानी के साथ-साथ बढा जा सकेगा—" कह कर हीली बायें को मुडी, और कैप्टेन दयाल साथ हो लिये।

सचमुच कुछ ऊपर जा कर झाडियाँ कुछ विरल हो गयी थी और उन के बीच मे घुसने का रास्ता निकाला जा सकता था। यहाँ कैप्टेन दयाल आगे हो लिये, अपनी बन्दूक के कुन्दे से झाड़ियाँ इधर-उधर ठेलते हुए रास्ता बनाते चले। पीछे-पीछे हीली हटायी हुई लचकीली शाखाओ के प्रत्याघात को अपनी डाओ से रोकती हुई चली।

कुछ आगे चल कर झरने का पाट चौडा हो गया—दोनो ओर ऊँचे और आगे झुके हुए करारे, जिन के ऊपर जरैत और हाली की झाडी इतनी घनी छायी हुई कि भीतर अँधेरा हो, परन्तु पाट चौडा होने से मानो इस आच्छादन के बीच मे एक सुरग बन गयी थी जिस मे आगे बढने मे विशेष असुविधा नही होती थी।

कैप्टेन दयाल ने कहा, "यहाँ फिर ख़ून के निशान है—शिकार पानी मे से इधर घिसट कर आया है।"

हीली ने मुँह उठा कर हवा को सूँघा, मानो सीलन और जरैत की तीव्र गन्ध के ऊपर और किसी गन्ध को पहचान रही हो। बोली, "यहाँ तो जानवर की—"

हठात् कैप्टेन दयाल ने तीखे फुसफुसाते स्वर से कहा, "देखो—श्-श्!"

ठिठकने के साथ उन की बाँह ने उठ कर हीली को भी जहाँ-का-तहाँ रोक दिया।

अन्धकार मे कई-एक जोडे अंगारे-से चमक रहे थे।

हीली ने स्थिर दृष्टि से देखा। करारे मे मिट्टी खोद कर बनायी हुई खोह मे—या कि खोह की देहरी पर—नर-लोमडी का प्राणहीन आकार दुबका पडा था—कास के फूल की झाड़-सी पूँछ उस की रानो को ढँक रही थी जहाँ गोली का ज़ख्म होगा। भीतर शिथिल-गात लोमडी उस शव पर झुकी खडी थी, शव के सिर के पास मुँह किये मानो उसे चाटना चाहती

हो और फिर सहम कर रुक जाती हो। लोमडी के पाँवों से उलझते हुए तीन छोटे-छोटे वच्चे कुनमुना रहे थे। उस कुनमुनाने मे भूख की आतुरता नही थी; न वे वच्चे लोमडी के पेट के नीचे घुसड-पुसड करते हुए भी उसके थनो को ही खोज रहे थे···माँ और वच्चो मे किसी को ध्यान नही था कि गैर और दुश्मन की आँखे उस गोपन घरेलू दृश्य को देख रही है।

कैप्टेन दयाल ने धीमे स्वर से कहा, "यह भी तो डाकू होगी—"

हीली की ओर से कोई उत्तर नही मिला। उन्होंने फिर कहा, "इसे भी मार दे—तो वच्चे पाले जा सके—"

फिर कोई उत्तर न पा कर उन्होने मुड कर देखा और अचकचा कर रह गये।

पीछे हीली नही थी।

थोडी देर वाद, कुछ प्रकृतिस्थ हो कर उन्होने कहा, "अजीब औरत है!" फिर थोडी देर वह लोमड़ी को और वच्चों को देखते रहे। तव "उँह, मुझे क्या!" कह कर वह अनमने से मुड़े और जिधर से आये थे उधर ही चलने लगे।

4

हीली नगे पैर ही आयी थी, पर लौटती वार उसने शव्द न करने का कोई यत्न किया हो, ऐसा वह नही जानती थी। झुरमुट से वाहर निकल कर वह उन्माद की तेजी से घर की ओर दौडी और वहाँ पहुँच कर सीधी वाड़े में घुस गयी। उस के तूफानी वेग से चौक कर वत्तखें पहले तो विखर गयी पर जव वह एक कोने मे जा कर वाड़े के सहारे टिक कर खड़ी अपलक उन्हे देखने लगी तव वे गरदनें लम्वी कर के उचकती हुई-सी उस के चारों ओर जुट गयी और 'क-क्! क-क्' करने लगी।

वह अधैर्य हीली को छू न सका, जैसे चेतना के वाहर से फिसल कर गिर गया। हीली शून्य दृष्टि से वत्तखो की ओर तकती रही।

एक ढीठ वत्तख ने गरदन से उस के हाथ को ठेला। हीली ने उसी शून्य दृष्टि से हाथ की ओर देखा। सहसा उस का हाथ कड़ा हो आया, उस की मुट्ठी डाओ के हत्थे पर भिच गयी। दूसरे हाथ से उसने वत्तख का

गला पकड लिया और दीवार के पास खीचते हुए डाओ के एक झटके से काट डाला।

उसी अनदेखते अचूक निश्चय से उसने दूसरी वत्तख का गला पकडा, भिंचे हुए दाँतो से कहा : "अभागिन !" और उस का सिर उडा दिया। फिर तीसरी, फिर चौथी, पाँचवी · ग्यारह बार डाओ उठी और 'खट्' के शब्द के साथ बाड़े का खम्भा काँपा; फिर एक बार हीली ने चारो ओर नजर दौडायी और बाहर निकल गयी।

बरामदे मे पहुँच कर जैसे उसने अपने को सँभालने को खम्भे की ओर हाथ बढाया और लडखडाती हुई उसी के सहारे बैठ गयी।

कैप्टेन दयाल ने आ कर देखा, खम्भे के सहारे एक अचल मूर्ति बैठी है जिस के हाथ लथपथ है और पैरो के पास खून से रँगी डाओ पडी है। उन्होंने घबरा कर कहा, "यह क्या, मिस यिर्वा ?" और फिर उत्तर न पा कर उस की आँखो का जड विस्तार लक्ष्य करते हुए उस के कन्धे पर हाथ रखते हुए फिर, धीमे-से, "क्या हुआ, हीली—"

हीली कन्धा झटक कर, छिटक कर परे हटती हुई खडी हो गयी और तीखेपन से थर्राती हुई आवाज से बोली, "दूर रहो, हत्यारे !"

कैप्टेन दयाल ने कुछ कहना चाहा, पर अवाक् ही रह गये, क्योंकि उन्होने देखा, हीली की आँखो मे वह निर्व्यास सूनापन घना हो आया है जो कि पर्वत का चिरन्तन विजन सौन्दर्य है।



वे दूसरे

हेमन्त कई क्षण तक चुपचाप वालू की ओर देखता रहा। यह नही कि उस के मन मे शून्य था; यह भी नही कि मन की वात कहने को शब्द विलकुल ही नही थे, केवल यही कि वालू पर उस के अपने पैरो की जो छाप पड़ी हुई थी—गीली वालू पर, जो चिकनी पाटी की तरह होती है—उस मे उस के लिए एक आकर्षण था जिस मे निरा कौतूहल नही, जिज्ञासा की एक तीखी तात्कालिकता थी। छालियाँ उस के पास तक आ कर लौट जाती थी—क्या कोई वडी लहर आ कर उस छाप को लील जायेगी? क्या एक ही लहर मे वह छाप मिट जायेगी—या कि केवल हलकी पड जायेगी—मिटने के लिए कई लहरो को आना होगा, जिन लहरो को पैदा करने के लिए समुद्र की, पृथ्वी की आन्तरिक हलचल की, चन्द्र-सूर्य-तारागण के आकर्पण की एक विशेष अन्योन्य-सम्वद्ध स्थिति को वार-वार आना होगा··· क्या उस का एक-एक अनैच्छिक पद-चिह्न मिटाने के लिए सारे विश्व-चक्र के एक विशेष आवर्तन की आवश्यकता है?

"कोरा अहकार!" उसने अपने को झकझोरने के लिए कहा, "कोरा अहंकार! इस लिए नही कि वात मूलतः झूठ है, इस लिए कि उस को तूल देना झूठ है। झूठ मूलतः तथ्य का नही, आग्रह का, दृप्टि का दोप है: झूठ-सच विषयी पर आश्रित, सापेक्ष्य है, तथ्य विपयी से परे और निरपेक्ष है।"

और तव उसने अपनी साथिन से कहा, "सुधा, मै कह नही सकता कि मेरे मन मे कितनी ग्लानि है और मै जानता हूँ कि वह वर्पो तक मुझे खाती रहेगी—मुझे लगता है कि अनुताप का यह वोध मै सारा जीवन ढोता रहूँगा। लेकिन—" क्षण-भर रुक कर उसने सुधा के चेहरे की ओर देखा —"लेकिन मै नही चाहता कि कटुता का वोझ तुम्हे भी ढोना पड़े या कि

तुम उसे याद भी रखो। और—"

वह फिर थोडी देर चुप हो गया। इस लिए भी कि आगे वह जो कहना चाहता था, उसे झिझक थी, और इस लिए भी कि वह चाहता था, ठीक इस स्थल पर सुधा उस की वात काट कर कुछ कह दे, जिस से उसे कुछ सहारा मिल जाये।

पर सुधा ने कुछ कहा नही! वह पिघली भी नही। हेमन्त ने यह आशा तो नही की थी कि उस पर भी अनुताप का इतना गहरा वोझ होगा कि उसे उदार वना दे, पर इतने की आशा उसने शायद की थी कि सुधा मे और नही तो करुणा का ही इतना भाव होगा कि उस की सच्ची भावना को स्वीकार करा दे। पर सुधा ने जल्दी से मुँह फेर लिया—और हेमन्त ने देखा कि उस फिरते हुए मुँह पर एक मुसकान दौडने वाली है—विजय के गर्व की मुसकान—मानो कहती हो कि 'अव जा कर तुम जानोगे, अनुताप की आग मे जलोगे तो मुझे मिलेगी—तुम जिस ने मुझे सताया-जलाया—"

ऐसी विदा की उस ने कल्पना नही की थी। उसे सहसा लगा कि वह मूर्ख है, महामूर्ख, क्योकि जव साथ रहना असम्भव पा कर वे अलग हुए, और इतनी कटुता के वाद तलाक हुआ ही, तव और अलग विदा लेना चाहने का क्या मतलव था? क्या यह कलाकार का दम्भ ही नही है कि वह पराजय को भी सुघर रूप देना चाहे? अन्त का सौन्दर्य उस की सुचारुता मे, सुघराई मे नही है, करुणा मे भी नही है, वह उस के अपरिहार्य अन्तिम-पन और काठिन्य मे है अन्त सुन्दर है क्योकि वह महान् है, क्योकि हम उस का कुछ नही कर सकते, उसे केवल स्वीकार कर सकते है···

किन्तु उस का मन नही माना। देख कर भी उस ने सुधा की गर्वीली मुसकान देखनी नही चाही। क्योकि यह तो निरी मृत्यु-पूजा है। अन्त इस लिए महान् है कि हम उसके आगे अशक्त है?—नही, हमारी स्वीकृति का सयम और साहस उसे महत्ता देता है—

और उसने पूरा साहस वटोर कर अपने मन की वात कह ही डाली, "और अगर तुम मुझे इतना भूल सको—यानी मेरे साथ की कटुता को—दोवारा विवाह की वात तुम्हारे मन मे उठे, तो—तो मुझे वडी सान्त्वना

मिलेगी—मेरा अनुताप तब भी मिटेगा या नही, यह तो नही कह सकता, पर इतना तो मान सकूँगा कि मै सदा के लिए शाप न बना, कि—"

अब सुधा फिर उस की ओर मुडी। अब उस ने अपने को वश मे कर लिया था—वह अप्रतिहत मुसकान उस के चेहरे पर नही थी। उसने रूखे स्वर से कहा, "मेरे विवाह की बात सोचने की तुम्हे जरूरत नही है। हाँ, उस से तुम अपने को अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे, यह तो मैं समझती हूँ।"

हेमन्त थोड़ी देर बोल ही नही सका। फिर जब उसने सोचा कि शायद अब सकूँ, तब उसने पाया कि वह चाहता नही है। तीन वर्षो की व्यर्थ चेष्टा मे, अलग होने की कटुता मे और फिर तलाक की कानूनी कारस्वाई के ग्लानि-जनक प्रसंग मे वह जितना नही टूटा था, उतना इस एक क्षण मे टूट गया। उसने आँखे फिर पैर की उसी छाप पर टिका ली। एक लहर आ कर उस पर हलके हाथ से लिपाई कर गयी थी, गड्ढे कम गहरे हो गये थे पर छाप का आकार स्पष्ट पहचाना जाता था, बल्कि लहर के पीछे हटने के साथ पैर की छाप मे भरा हुआ पानी एक ओर को मानो मोरचा तोड़ कर वह निकला था और उधर को बालू मे एक नयी लीक पड गयी थी। इस छाप को मिटाना ही होगा—लहर को आना ही होगा, यह लीक—यह लीक एक अनावश्यक आकस्मिक घटना है जिसे और एक आकस्मिक घटना अवश्य मिटायेगी, नही तो सब गलत है, सब व्यवस्था गलत है, कार्य-कारणत्व ही धोखा है—और तब सृष्टि एक आधारहीन, कारणहीन, अर्थहीन विसगति है—पर वह वैसी हो नही सकती—

वह आँखो से उस पैर की छाप को पकड़े रहेगा। उस मे स्वास्थ्य है—उस के सहारे यथार्थ से उस का सम्बन्ध जुडा है—उस यथार्थ से जिस मे भावनाएँ अर्थ रखती है; और संयत है, नही तो यथार्थ तो सब कुछ है जो है—पर ऐसा भी हो सकता है कि भावनाएँ ही एक भूल-भूलैया हो जावे—

उसने फिर कहा, "मैं यहाँ से कटुता की स्मृति भी वापस न ले कर जाऊँगा, यही सोच कर यहाँ आया था। और इसी लिए सागर के किनारे—कि शायद यहाँ अपनी क्षुद्रता उतनी प्यारी न लगे, और—" वह फिर रुक गया, उस के वाक्य की गढन ठीक नही थी क्योंकि इस के अर्थ दोनो तरफ़

सकते हैं और वह केवल अपनी क्षुद्रता की बात करना चाहता है; इस वक़्त आरोप-अभियोग उस में नहीं है, न होने देना होगा, केवल स्वीकृति···

एक और लहर आयी, जिस के उफनते झाग पैर की छाप के बहुत आगे तक छा गये। जब लहर लौटी, और झाग के बुलबुले बैठ गये, तब हेमन्त ने देखा, छाप मिट गयी है। या कि नहीं, उस की झाईं-सी अभी दीखती है? नहीं, निश्चय ही वह उस का भ्रम है; और कोई कुछ न देख सकता, वह इस लिए देखता है कि उसे याद है—

'याद' है! कितनी घुली हुई मिथ्या छायाओं को हम केवल स्मृति के —स्मरण-भ्रम के—ज़ोर से सच बनाये रहते हैं? सागर का जो तट मीलों तक फैला है—मीलों क्यों, अगर कोई चीज भौतिक यथार्थ के इस छोर से उस छोर तक, इस सीमा से उस सीमा तक, इस असीम से उस असीम तक फैली है तो वह सागर का तट है! उसी पर एक अदृश्य पैर की छाप को मैं 'देख' रहा हूँ, वह भी इतनी स्पष्टता से कि उस से मेरा जीवन बँध रहा है—क्या यह यथार्थ है? क्या देखना यथार्थ है? क्या—

× × ×

हेमन्त देखता है—

वे दोनों पहाड़ की चोटी पर खड़े हैं। सामने अत्यन्त सुन्दर दृश्य है—छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरी हुई-सी झील जो साँझ के आलोक में ऐसी है मानो रंग-बिरंगा और मेखिल आकाश ही जम कर नीचे बैठ गया हो, ऊपर पहली शरद् के मेघ जिन्हें डूबते सूरज की आभा ने रँग दिया है—पीला, लाल, धूमिल, बैंगनी। और ऊपर एक अकेला तारा। लेकिन हेमन्त उस दृश्य से नहीं है। वह सुधा के साथ भी नहीं है। वह कहीं और हो, ऐसा नहीं है, वह सुधा और हेमन्त को इस परिपार्श्व में जैसे बाहर से देख रहा है, वह भी पीछे से—और सोच रहा है कि उन दोनों की पीठ इस झील और आकाश के परदे पर कैसी दीखती होगी? क्या उन पीठों में, उन छाया-कृतियों के परस्पर रुझाव-झुकाव में, इस बात का कोई संकेत है कि ये दो प्रेमी हैं, या कि पति-पत्नी हैं, विवाह के सप्ताह-भर बाद ही इस पहाड़ी झील की सैर, एकान्त सैर के लिए आये हैं, इस लिए 'हनीमूनर' युगल हैं? वह जानता है कि ऐसा कोई संकेत नहीं है, क्योंकि यह झूठ है। तथ्य सब

ठीक है—पर आग्रह की चूक है, भावना की चूक है। और निरा तथ्य तब तक सत्य की अभिधा नहीं पाता जब तक उस के साथ रागात्मक सम्बन्ध न हो···

बल्कि वह साथ भी नहीं है। मानो वह अगर हाथ बढ़ा कर सुधा का हाथ पकड लेगा तो भी उसे छूएगा नहीं क्योंकि दोनों एक भावनात्मक दूरी की चादर मे लिपटे हुए है।

सुधा ने धीरे से कहा, "हम यहाँ नहीं होंगे, तब भी यह तारा ऐसा ही चमकेगा। पर जैसे हम आज इसे देख रहे है, वैसे और कोई नहीं देखेगा—यह आज इस क्षण का तारा है।"

हेमन्त को थोड़ा-सा अचम्भा हुआ। क्या यह सच है? ऐसे क्षण पर भावुकता क्या जरूरी है? जो सच होता तो मौन मे भी प्रकट होता, वह जब सच नहीं है तो क्या इस बात को भी मौन मे ही न छिपे रहना चाहिए? पर यह वह कह भी कैसे सकता है? लेकिन उसे कुछ कहना है, क्योंकि दूसरा जो उत्तर हो सकता है—कि सुधा का हाथ पकड़ कर धीरे से दबा दिया जाता—वह उत्तर भी झूठ है···

उसने कहा, "तारे सब के अलग-अलग होते है।" इस वाक्य मे चाहे जितना जो अर्थ पढा जा सकता है, अधिक या कम···और अपने मन का सच भी उसने कह दिया है, छिपाया नहीं है···

सुधा ने उस की ओर देखा। क्या हेमन्त को धोखा ही हुआ कि जब देखा, तब पहचान उन आँखो मे नहीं थी, तत्काल बाद आयी—कुछ अचकचाहट के साथ?

सुधा बोली, "क्या सुन्दर मे हम सब अपने-अपने अलगाव डुबा नहीं सकते?"

"सकते है। अपने-अपने एकान्त का लय—" और रुक गया। लेकिन मन के भीतर कुछ बोला, "सुन्दर मे, लेकिन एक-दूसरे मे नहीं, एक-दूसरे मे नहीं!"

अपने को लय करने के लिए सागर की विशालता से अच्छा और कौन द्रावक मिल सकता है? कितने लोग सागर-तट पर खड़े-खडे व्यक्ता को उस मे विलीन कर देते होंगे···लेकिन उस से क्या एक-दूसरे के कुछ

भी निकट आ सकते होगे ? सागर मे डूब कर भी क्या प्रत्येक चट्टान अलग चट्टान नही बनी रहती ? जो द्रव नही होती, द्रव हो नहीं सकती ··

और सागर की छाली, पैर की छाप मिटाने से पहले उस मे छेद करती है, दरार डालती है, नयी लीक बना देती है ··

हेमन्त ने फिर देखा :

नदी पर बजरा धीरे-धीरे वह रहा है। उस के डोलने से, और बाहर लकडी पर पडती माँझी की दबी हुई पद-चाप से ही मालूम हो रहा है कि यह बह रहा है, क्योंकि जहाँ वह बैठा है, वहाँ चारो ओर के परदे खिंचे हुए है, बाहर कुछ नही दीख रहा है। कही भी कुछ भी दीख रहा है, ऐसा नही है, क्योंकि उस का शरीर एक अन्य शरीर से उलझा-गुँथा हुआ है और उस गुथन मे सुलझाव की, तारतम्य की कुछ ऐसी कमी है कि दृष्टि देने वाली वासना केवल धुआँ दे रही है जिस से आँखे कडुआ जाती है : क्यो नही सब कुछ को दृष्टि से बाहर कर के, उस मन्द-मन्द दोलन पर झूलते हुए यह अपर-शरीत्व का भाव मिटता—क्यो नही—

उसने किंचित् बल से सुधा का परे को मुडा मुँह अपनी ओर फिराया—कदाचित् उस की आँखो मे आँखे डाल कर दोनो इस खाई को पार कर सके—लेकिन सुधा की आँखे जोर से भिंची हुई थी—क्यो ? वासना अन्धकार माँगती है शायद, ताकि वह अपनी ज्वालामयी सृष्टि को अपने ढंग से देखे, यथार्थ उस मे बाधा न दे—पर बन्द आँखे—क्या वह ज्योति.-शरीर अन्धी आँखो से ही देखा जायेगा ? पर अन्धी आँखे पृथक् आँखे है, और वासना अगर युत नही है तो कुछ नहीं है—

उस ने भर्राये स्वर मे कहा, "आँखे खोलो—"

वह जान सका कि आँखे खुलने के साथ-साथ सुधा का शरीर सहसा कठोर पड गया है, और वह जान सका कि पहचान उन आँखो मे नही थी, उन आँखो मे था—वह, वह दूसरा, और इसीलिए आँखे बन्द थी। बाहर एक धुएँ का खोल है जो उसे भी लपेट लेगा, और भीतर एक ज्योति शरीर जो—जो कहाँ है ? क्या है भी ?

और थोडी देर के लिए नाव का दोलना, गति, हवा, साँस, हृद्गति, सब कुछ रुक गया था, और फिर धीरे-धीरे अनजाने वह वासना की गुजलक

खुल गयी थी—साँप मर गया था—हेमन्त अलग जा कर परदा हटा कर बाहर देखने लगा था नदी किनारे के गाँव की मुर्गावियाँ कगार की छाँह में तैरती हुई, और मुधा अपने अस्त-व्यस्त कपड़ों की सलवटें ठीक कर के पास पड़ी चौकी के फूल सँवारने लगी थी। हेमन्त का मन आत्मग्लानि से भर आया था—वह जो जानता है उसे क्यों भूल सका, भूल नहीं सका, क्यों नहीं उसकी अनदेखी करना चाह सका? मुधा की आँखों में वह दूसरा है, और स्वयं उस की अपनी—क्या उन की आँखों में भी एक परछाईं नहीं है? और जब तक है तब तक यह उलझन, यह गुँथन उस ज्योतिः शरीर का किरण-जाल नहीं है, केवल साँप की गुंजलक है जिस के दंश में केवल मरण है···

और मुधा ने कहा था, "हेमन्त, तुम मेरी एक इच्छा पूरी करोगे?"

"क्या?"

"मैं···मेरे लिए शराब ला सकोगे? मैं शराब पीना चाहती हूँ।"

मुर्गावियाँ···कगार के कीचड़ में चोंच फिचफिचाती हुई मुर्गावियाँ और उनके आस-पास बनते हुए लहरों के वृत्त—जो सागर की लहरों में घुल जाते हैं, और सागर वह रेत की पैरों की वह छाप धीरे-धीरे मिटा देता है।

शराब वह लाया था। मूक विद्रोह से भरा हुआ, पर लाया था। दोपहर को वे खाना खाने बैठे थे, और साथ मुधा ने शराब पीनी चाही थी—पी थी। दोपहर को कोई नहीं पीता, खाने के साथ कोई नहीं पीता, कम-से-कम जिन-ह्विस्की-जैसी भभके की शराबें, और उस ढंग से—यह न वे ठीक जानते थे, न वह सोचने की बात थी। क्योंकि वह शराब वातावरण को रंगीनी देने, बात-चीत को आलोकित करने के लिए नहीं थी, वह शराब स्वयं अपनी इन्द्रियों को थप्पड़ मार कर सुन्न कर देने के लिए थी···हेमन्त देख रहा था, और केवल देखना, वह भी स्त्री को शराब पीते, स्वयं ग्लानि-जनक है, इसलिए साथ पी रहा था। और जब उसने देखा मुधा ने बड़े निश्चय-पूर्वक बहुत-सी अपने ग्लास में एक साथ ढाल ली है तब मुख्यतया इसलिए कि मुधा और न पी सके, उसने सहसा बोतल उठा कर मुँह को लगा ली थी और मुधा के हाथापाई करते-करते भी सारी पी गया था।

तेज शरावो मे स्वाद यो भी नही होता, और ऐसे पीने मे तो और भी नही, उसे वडी जोर से उवकाई आयी थी, पर उसने किसी तरह उसे दबा कर चार-छह ग्रास खाना खा ही लिया था ··

फिर उसकी चेतना भी कुछ मन्द पड गयी थी । याद सव कुछ है, और उसकी प्रत्येक हरकत मे एक स्पष्ट प्रेरणा भी काम कर रही थी जिस का उसे ध्यान भी था, पर जैसे उस के भीतर का कोई उच्चतर सचालक हथौडे की चोट से चित्त हो गया हो, और ऐरे-गैरो की वन आयी हो। उसने उठ कर सव किवाड-खिडकियाँ वन्द कर दी थी, परदे तान दिये थे । थी अभी दोपहर, पर उसे अभी कुछ धुँधला, कुछ नीला-सा दीखने लगा था, जैसे पानी के नीचे गोता लगा कर आँख खोलने से दीखता है । हवा भी जैसे पानी-जैसी भारी और ठोस हो गयी थी—चलने मे उसे ऐसा जान पडता था जैसे वह पानी को ठेल-ठेल कर वढ रहा हो ·जैसे ठीक प्रतिरोध तो कही न हो, लेकिन प्रत्येक अंगक्षेप मे अजीव जडता आ गयी हो··

इस से आगे उसे ठीक या स्पष्ट याद नही । यह नही कि स्मृति धुँधली हो गयी है, शायद जिस वोध की स्मृति है वही धुँधला, धुएँ से कड़वा, मैला, एक जडता लिये हुए है, जैसे जाडे मे ठिठुरा हुआ साँप । उसे याद है कि कही नीले-नीले पानी मे से मछलियो की तरह नि शव्द से, वे दोनो एक दूसरे के पास आये थे, और जैसे मछलियाँ पानी मे भी वलखाती-सी मानो एक-दूसरे से सटती-सी, पेच देती-सी, चली जाती है, उसी तरह धीरे-धीरे आगे वढ गये थे फिर सहसा उस ने पाया था कि उन मछलियो के पेच नही खुल रहे है, कि वह ठिठुरा हुआ साँप-जैसे जाग उठा है और उसको गुजलक मे दोनो कसे जा रहे है, पर पानी नीला होता जा रहा है, और उनके कपडे भी मानो मोम-से जान पड रहे है, या कि है ही नही, केवल नीले पानी मे काँपती उनकी परछाई है, तभी तो उनके हाथो की पकड मे नही आते—

और फिर सव नीला-ही-नीला हो गया था, एक द्रव जिसमे वे जड होते जा रहे है, न उलझे, न अलग, गरम पानी मे पडी हुई मोम की वूँद जो न घुल सकती है, न जम सकती है ।

और इसके वाद जो याद है, वह यह कि जव वह चौक कर जागा था और हड़वड़ा कर उठा था कि वमी करने के लिए कम से कम यथा-स्थान पहुँच जाये, तव दिन छिप रहा था। मुँह-हाथ धो कर जव वह सख्त सिर-दर्द लिये कमरे मे लौटा था, तव सुधा सोयी पडी थी। उसने नीद मे, या वीच मे जाग कर, वही पास ही कै कर दी थी पर उसका भी उसे होश नही था···

ओर उस ने सव किवाड-खिडकियाँ खोली थी, नौकर वाहर मुसक-राया था कि वावूसाहव दिन-भर किवाड़ वन्द करके सोये रहे, चाय-पानी और व्यालू की चिन्ता भूल कर—नयी शादी है न···

तव उस ने वैठ कर सामने-सामने उस दूसरे की वात को फिर से सोचा था और गहरे वैठा लिया था·· जव विवाह हुआ था, तव दोनो जानते थे कि दोनो का पहले अन्यत्र लगाव रहा है जो मिटा नही है, लेकिन जिस का कोई रास्ता भी नही है। एक विवाहित व्यक्ति था और पति-पत्नी दोनो ही सुधा के भी और हेमन्त के भी घने मित्र थे·· वह परिवार न टूटे, यह भी सवके ध्यान मे था, और विवाह हुआ तव जैसे यह भी एक वात पीछे कही पर थी कि सभ्य समाज में अगर ऐसी उलझने पैदा होती है, तो सभ्य व्यक्ति उसका सामना भी सभ्य तरीको से कर सकता है; प्यार जहाँ है वहाँ हो, और विवाह·· विवाह तो सामाजिक सम्वन्ध है, व्यक्ति के जीवन मे यह वाधक हो ही, ऐसा क्यो ?

वह अपनी भूल जानता और मानता है—जान गया। और भूल दोनो की थी, इस वात के पीछे उसने आड नही ली।

वह दूसरा···क्या वह आज भी उस दूसरे की वात कर सकता है ? अपनी ओर से, या दूसरी ओर से ? हेमन्त ने सागर की ओर देखा, उस की लहर मे उसे वुरूस के फूलो का एक वडा-सा लाल गुच्छा दीखा, जो वास्तव मे किसी की कवरी मे खोसा हुआ है, कवरी और माथे की रेखा भी उसे दीख गयी, और ग्रीवा की वंकिम भगिमा, किन्तु चेहरा—वहाँ उस की दृष्टि रुक गयी। नही ··वह दूसरी थी—और आज भी वह कैसे कहे कि वह है नही केवल थी, यद्यपि वह जानता है कि वह होकर भी हेमन्त के जीवन से सदा के लिए चली गयी है। पर उस को इस झमेले मे

नही लाना होगा, वह अलग ही है। उस ने कभी कुछ नही माँगा···न प्यार, न व्याह, न वासना ··वह दे कर चली गयी जैसे बिजली कौंध कर गिर कर मिट जाती है···

और सुधा ? हेमन्त को याद आया, व्याह के बाद सुधा को उस दूसरे की एक चिट्ठी भी आयी थी। कई दिन बाद। उस ने देखी नही थी, कुछ पूछा नही था, सुधा को अनमना और अस्थिर देख कर भी नही। पर दूसरे-तीसरे दिन सुधा ने ही कहा था, "यह चिट्ठी आयी थी—पढ लो।"

और उस मे अनिच्छा स्पष्ट थी। "मैने कह दिया, मेरा कर्त्तव्य था। तुम इनकार करो पढने से, क्योंकि तुम्हारा भी वह कर्त्तव्य है—तुम्हे मुझ पर विश्वास करना होगा।"

हेमन्त ने चिट्ठी न लेते हुए कहा था, "क्या लिखा है ?"

"कुछ नही—यो ही शुभ-कामनाएँ—और अपने इलाके का वर्णन—"

हेमन्त ने अनचाहे लक्ष्य किया था कि चिट्ठी लम्बी है। आशीर्वाद छोटे होते है खासकर उस के, जो वह दूसरा व्यक्ति हो·· उस की आँखे चोरी से कागज पर फिसलती हुई एक वाक्य पर रुक गयी थी: "और मैं सोचता हूँ कि तुम शीघ्र ही उसके बच्चे की माँ भी होगी—उस बच्चे की मूरत उस जैसी होगी, लेकिन वह तुम्हारी देह—" और जैसे उस ने स्वयं चोर को पकड लिया हो, ऐसे चौंक कर उस की दृष्टि हट गयी थी।

क्या वह बहुत बडा स्वीकार नही है ? किन्तु कैसी अद्भुत है यह बात, कि जिस की आत्मा हम दूसरे को सौंपने को तैयार है—क्योंकि उन के व्याह की बात स्वीकार करते है—उसी की देह को सौंपते क्यो हमे इतना क्लेश होता है ? 'दूषित' या 'भ्रष्ट' क्या देह होती है, या मन—आत्मा ? या कि देह को हम देख, छू सकते हैं, बस इतनी-सी बात है ?

उस ने कहा था, "ठीक है, मै पढ कर क्या करूँगा ? तुम उत्तर दे देना।" और उठ कर हट गया था

बुरूस के गुच्छे-गुच्छे लाल फूल ·वह भी क्या ऐसे ही सोचती-कहती ? कल्पना का क्या भरोसा, लेकिन हेमन्त जानता है, कभी कुछ कहने का अवसर उसे होता, या कुछ वह कहना चाहती तो यही कहती, "मैने अपनी आत्मा तुम्हे दी है, इस लिए मेरी देह भी तुम लो—क्योकि वह आत्मा का

खोल है। और उस के वदले कुछ देना कभी मत चाहना, क्योंकि वह मेरे इस उपहार का अपमान है। तुम निरपेक्ष भाव से जब जो दोगे, मैं वर समझ कर ले लूँगी···"

यह आदिम, अराजक, व्यक्ति-परक दृष्टिकोण है। लेकिन यही क्या एक मात्र सभ्य दृष्टिकोण नही है, जो हमारे सभ्य जीवन के वोझ के नीचे दवा जा रहा है ?

"तुम अपने को अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे"···स्मृति का दंश ! ·· लेकिन नही, मन, इस पर मत अटक, यह व्यर्थ है ! अत्यन्त व्यर्थ ! हमारा जीवन हम से है, उन दूसरों मे नही, वे हमारे कितने ही निकट क्यो न हो, और हमारी न चाहने की उदारता मे ही हमारी स्वतन्त्रता है। पाने मे नही, न पाने की याद करने मे नही। पैर की जो छाप सागर-तट की वालू पर वन गयी है, उसे सागर की लहरो मे घुल जाने दो, चाहे धीरे-धीरे यों ही, चाहे दरारो मे फट कर···

"इसी लिए तुम्हें सागर के किनारे पर मिला, कि शायद अपनी क्षुद्रता यहाँ इतनी प्यारी न लगे—"

और स्मृति ? व्यर्थ, व्यर्थ, व्यर्थ ! क्षमा की पराजय, जीवन की खाज ···जीवन की देन हमे या तो विनयपूर्वक स्वीकार करनी है,—जिस दशा मे स्मृति वेकार है, विनय चरित्र का एक अंग है और स्मृति केवल मस्तिष्क का एक गुण—या फिर· अगर हम मे विनय नही है, हमे स्वीकार नही है, तो स्मृति केवल एक कीडा है जिस के दंश से फोड़े होते है ? और हम केवल अपने फोड़े चाटते रहते हैं। फोड़े चाटना क्या सभ्य कर्म है ? सागर का भी अपना विनय है, वह पैरो की छाप मिटाता है, दरारे मिलाता है; सागर का विनय मुग्ध नही करता, वह स्वास्थ्य-लाभ को प्रेरित करता है—पैरो की छापे मिटाता हुआ···

"सुधा, मैं सच्चे दिल से कहता हूँ—सागर की कसम खा कर—मेरे मन मे कोई कटुता नही है। जो कुछ था, या होना चाहा था, उसे जब मिटा दिया तो कटुता क्यों अनिवार्य है ? मेरा अपराध का वोध नही मिटा, न मिटेगा—पर तुम जाओ तो क्षमा कर के जाओ—सागर की तरह, और

मैं तो—"

उस की आवाज फिर रुक गयी। तभी एक वडे जोर की छाली आयी —हेमन्त के पैर की छाप को पार करती हुई, आगे वढ कर हेमन्त के पैरों को भी लिपट गयी। झाग मे खड़े-खडे उस ने लम्वी साँस ली और कहा, "सुधा, तुम सुखी रहो।"

सुधा की मुसकराहट मे तीखापन था। उस ने पीछे हटते हुए नमस्कार किया और चल पडी।

हेमन्त क्षण-भर उसे देखता रहा। फिर उस ने पैरो की ओर देखा, वह भगोडी छाली लौटती हुई उस के पैरो के तले से थोड़ी-सी वालू काट ले गयी थी, और गीली रेत पर पड़े हुए तो सव पैरो की छाप विलकुल मिट गयी थी—जैसे लिपी-पुती एक नयी वेदिका खडी हो···

हेमन्त ने लम्वी साँस ली। फिर जैसे सहसा याद कर के देखा, सुधा दूर पर चली जा रही थी। और अभी तक वह अकेली थी, अव दूर के एक झाड के पीछे से एक और व्यक्ति उस के साथ हो लिया और क्षण ही भर वाद कदम से कदम मिला कर चलने लगा। हेमन्त ने पहचाना, वही दूसरा··

पर वह चौंका नही। ठीक है। पैरो की छाप विलकुल मिट गयी है। मन-ही-मन उस ने सागर को प्रणाम किया।

इसी तरह पैरो की छाप मिट जायेगी! सव से पहले उस की। धीरे-धीरे उन दूसरो की···सागर आदिम, अराजक, व्यक्ति-परक है, स्वयं और सयत है। सभ्य है···

कविप्रिया

शान्ता—कवि दिवाकर की पत्नी

सुधा, मालती—शान्ता की सहेलियाँ

सुरेश—बन्धु, सुधा का पति

अशोक—बन्धु

दिवाकर—कवि

बालक, माली, बेयरा

[बँगले के सामने बगीचे के एक भाग में, शान्ता और माली।]

माली—"पानी तो हम बराबर दे रहेन, माँजी। मगर लू—"

शान्ता—[जिस के स्वर मे अपार धैर्य और एक स्निग्ध अन्तर्मुखीन भाव है] "रहने दो, माली, ऐसे बहाने मत बनाओ। तुम्हे आदत है सब चीज़ दैव पर छोडने की—'दैव नही बरसेगा तो बीज नहीं जमेगा।' ऐसे भी देश होते हैं जहाँ दैव कभी बरसता ही नही—वहाँ—वहाँ क्या पौधे ही नही होते?"

माली—[मानो अपने बचाव मे] "माँजी—"

[निकट आती हुई हँसती हुई आवाज़े : मालती, सुधा और सुरेश]

सुधा—"वह रहीं, बगीचे मे। शान्ता!"

सुरेश—"नमस्कार, शान्ता भाभी। बागवानी हो रही है?"

शान्ता—"अरे सुधा—सुरेश भैया! आइये। [सकपकाती-सी!] मेरे हाथ मट्‌टी के हो रहे हैं—माली, दौड़ कर जरा देवीसरन से कुरसियाँ डाल देने को कहो तो—"

मालती—"जी हाँ, मेरे तरफ़ तो देखेगी क्यों श्रीमती शान्ता देवी—उर्फ़ कविप्रिया—"

शान्ता—"ओहो मालती ! जरा सामने तो आओ, मैने तो देखा ही नही—"

मालती—"जी यही तो कह रही हूँ । मुझे क्यो देखने लगी ! मै न कवि, न बुलबुल, न गुलाव का फूल—"

शान्ता—[हैरान-सी] "आखिर मामला क्या है ?"

सुधा—[धीरे से] "न सही गुलाव का फूल, मालती का सही !"

मालती—[डपट कर] "चुप रहो जी ! [शान्ता से] अच्छा कविप्रिया देवीजी, पहले तो मिठाई खिलाइये—

सुरेश—"नाम ठीक रखा है आपने—कविप्रिया देवी । आपको भी कवि होना चाहिए था—

मालती—"मुझे ख़ाहमख़ाह । कवि तो जो है सो हुई है—पूछो न उन की देवीजी से !"

शान्ता—"यह पहेली क्या है आखिर ? मालती, तुम्ही वताओ क्या वात है—लेकिन पहले सव लोग वैठ तो जाओ !"

मालती—"अब तुम वनो मत, शान्ता । कल तुम्हारे कविजी सम्मेलन मे सभापति रहे, उन के कविता-पाठ की सारे शहर मे धूम है—तुम ने तो हमे कभी वताया ही नही कि वह कविता लिखते भी है ?"

सुरेश—"अच्छा शान्ता भाभी, वह सारे प्रेमगीत अकेले तुम्ही को सुनाते होगे और छिपा कर रख लेते होगे ?"

सुधा—"और शान्ताजी तो भला किसी को वताने क्यो लगी अपनी सूम की दौलत !"

मालती—"तभी तो आज हम दल वॉध कर तुम्हे देखने आये है !"

शान्ता—[कुछ हँस कर] "तो मुझे क्यों देखने आयी ? मै तो वही की वही शान्ता हूँ, अनपढ, वेसमझ—मुझे तो कविता छू भी नही गयी । और वह तो इस समय यहाँ है नही, न जाने कव आयेगे ! ख़ैर, तुम लोग वैठो, वह जव भी आवे—"

मालती—"नही देवीजी, यों नही । हम आप ही को देखने आये है, आप के दर्शन करने, आप से कविता सुनने—"

शान्ता—[मानो अवाक्] "मुझ से कविता?"
मालती—"जी हाँ। आप की कविता और आप के उन की कविता। सुर से—ठीक वैसे ही जैसे 'वह' जी आप को अकेले मे सुनाते होगे!"
सुधा—"जी हाँ, वैसे ही।"
शान्ता—"तुम लोग सब पागल हो गयी हो क्या?"
मालती—"यह लो। अभी अपने को अनपढ बता रही थी, अब हमे पागल बता रही है!"
शान्ता—"मैंने कहा तो, वह घर नही है, आवेगे तो कविता सुन लेना!"
सुधा—"आप तो घर पर है न, यह पहले बताइये!"
शान्ता—"मै घर पर न हूँगी तो और कहाँ हूँगी—उन के साथ सम्मेलनों मे घूमूँगी? मुझे यह सब अच्छा नही लगता, मै यही ठीक हूँ घर मे।"
सुधा—"तो तुम कभी कही जाती—"
शान्ता—"न, मुझे क्या करना है बाहर? यही बगीचे में टहल लेती हूँ—मुझे बगीचे मे काम करना अच्छा लगता है।"
सुधा—"बुरी बात है शान्ता! तुम एकदम बाहर ही नही निकलती—"
मालती—"हाँ यह तो बहुत बुरा है। जहाँ न जाये रवि वहाँ पहुँचे कवि। और कवि की स्त्री घर से बाहर न निकले? कविप्रिया वन्दिनी होगी, यह हमने कभी नही सोचा था!"
शान्ता—"अब बस भी करो! वन्दिनी काहे की? वह कवि है, वह बाहर जावेगे, मुझे घर मे कम काम है?"
मालती—"ओह मै समझी! [सुधा से] बात यह है कि अगर कवि भी घर ही रहेगे तो उन की काव्य-धारा फूटेगी कैसे? प्रिया हर वक्त पास रहेगी तो कवि का चिर-विरही हिया तो चुप ही हो जायेगा। और हम ससारियो की तरह प्रिया को साथ ले कर घूमे-फिरेगा, सिनेमा देखेगा, तब तो उस की कविता का स्रोत ही सूख जायेगा। प्रिया को निर्वासन दे कर ही तो कवि, कवि बन सकता है—उस का जीवन बलि दे कर ही काव्य-साधना

कर सकता है।"

शान्ता—"तुम रखो अपना पाण्डित्य। मै यह सब कुछ नही जानती।"

सुधा—"अच्छा ये वहाने रहने दो अव। यह वताओ कि दिवाकर वावू—कविजी आवेगे कव ? हम उन्ही से उन की कविता सुन लेगे।"

शान्ता—"सो मैं क्या जानूं ? एक वार घर से निकले तो कव लौटेंगे यह भगवान् भी नही वता सकता। मालती कह रही थी न, जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि ? सो रवि सुवह का निकला साँझ को घर लौटता ही है, पर कवि का क्या ठिकाना।"

मालती—"तुम रूठती नही ?"

शान्ता—"क्यो ? उन्हे कुछ काम रहता होगा—"

मालती—"और तुम्हे कोई काम हो, कही जाना हो तो ?"

सुधा—"चाय पी कर गये है ?"

शान्ता—[कुछ रुक कर] "नही, चाय पी कर तो नही गये। लेकिन मैं तो घर पर ही हूँ, जव आयेगे तभी चाय हो जायेगी। मुझे तो कही जाने-आने का काम होता ही नही—यही वगीचे मे काम कर लेती हूँ, रूठने की वात ही क्या है।"

सुधा—"और रात को आये तो ?"

शान्ता—"तो रात को चाय होगी—भोजन देर से हो जायेगा।"

सुधा—"भई वाह, मानो वच्चा हो—जो मिल जाय उसी मे ख़ुश।"

मालती—"लेकिन मुझे तो भई वहुत गुस्सा आता। मैं तो कभी वात भी न करती।"

शान्ता—[कुछ गम्भीर होकर] "हाँ भई, तुम्हे शायद गुस्सा आता, या न आता तो कम से कम दिखाती जरूर। [लम्वी साँस के साथ] लेकिन यहाँ यह सव नही चलता। मै गुस्सा करूँ तो वह दुगुना गुस्सा करेगे। रूठा वहाँ जाता है जहाँ कोई मनाने वाला हो—जैसे माँ के साथ · माँ के साथ मै भी वहुत रूठा करती थी · [सहसा खिलखिला कर] दीवार के साथ और कवि के साथ भी भला रूठा जाता है ?"

सुधा—"अच्छा, तुम कभी रोती नही ? जरूर रोती होगी ।"

शान्ता—[थोडी देर वाद] "रोती हूँ शायद । लेकिन तुम लोगो की तरह शायद नही । कोई मेरे आँसू पोछ कर मुझे मनावेगा, यह सोच कर नही । कभी रात मे अँधेरे मे रो लेती हूँगी—अन्धकार को परचाने के लिए···[गला भारी हो आता है ।]

[वालक का प्रवेश]

वालक—"माँ, माँ, मैं जरा साइकिल चला लूँ ?"

शान्ता—[सुस्थ हो कर] "नही वेटा, अव रात मे—"

वालक—"हाँ माँ, यही थोड़ी दूर ही रहूँगा—वेयरा को साथ ले जाऊँगा—"

शान्ता—"अच्छा जा ! पर दूर मत जाना ।"

वालक—"अहा हा—जायेगे—जायेगे !"

[वालक उछलता हुआ जाता है ।]

शान्ता—[मानो स्वगत] "यह भी मेरे साथ कभी-कभी वहुत रूठता है, मैं मना लेती हूँ ।"

सुरेश—"वड़ा अच्छा लडका है । शान्ता भाभी, तुम्हारा तो मन यही वहलाये रखता होगा ।"

शान्ता—"हाँ, सो तो है ही ।"

सुधा—"और जो तंग करता होगा सो ?"

शान्ता—"तंग तो वच्चे करते ही है, पर उस से कोई तंग होता थोडे ही है । मैं तो सोचती हूँ, मुन्ने के कारण मुझे दुनिया के हिसाव-किताव से छुट्टी मिली—क्या पाया क्या नही पाया इस का लेखा-जोखा रखने की जरूरत नही अव मुझे । मैं समझती हूँ कि जीवन जो देता है मैंने पा लिया···"

मालती—"कैसा हिसाव-किताव ?"

शान्ता—"हिसाव-किताव नही तो और क्या ! कहने को तो यह सव भावना-आकांक्षा, मन और अध्यात्म की वाते है, लेकिन असल मे तो हिसाव-किताव ही है न । कितना रग, कितना उजाला,

कितना अँधेरा, कितना प्रकाश, कितनी छाया, कितना प्यार—कितना आराम, कितना परिश्रम जीवन मे मिला'' जो लोग रोमास के पखो पर उडते है, वे भी इस हिसाब-किताब को भूलते नही। और इस जोड-बाकी मे अगर मुनाफा देखे तो खुश होते है, घाटा देखे तो जीवन के प्रति असन्तोष उन्हे होता है। सुधा, तुम क्या सोचती हो मैं नही जानती, पर मै तो भावना के हिंडोले नही झूलती। मेरा जीवन शान्त, स्थिर हो गया है क्योकि मै प्रिया नही, माता हूँ। [स्वर क्रमश भावाविष्ट होता जाता है] मैं स्नेह और आदर की अपेक्षा मे रहनेवाली नही, स्नेह देने वाली हूँ। मै सुवह से शाम तक जो कुछ करने का है करती जाती हूँ—जागती हूँ, उठती हूँ, खिलाती हूँ, खाती हूँ, देखती हूँ, सुनती हूँ—और मै किसी चीज का, किसी वात का प्रतिवाद नही करती। प्रतिवाद कोई किस का करे—जीवन कोई बुझौवल थोडे ही है, वह सब से पहले अनुभव है!"

सुरेश—[मानो अधिक गम्भीर वात को हँसी मे टालने का यत्न करता हुआ] "जीवन बुझौवल है कि नही, यह तो अलग वात है, पर भाभी, तुम जरूर हो।"

शान्ता—[उसी प्रकार आविष्ट] "हूँगी। जरूर हूँगी—इसी लिए कि मुझ मे बुझौवल कही नही है—मै सुलझाव ही सुलझाव रह गयी हूँ। 'दो' पहेली है जिस का सुलझाव है 'एक' और 'एक'। लेकिन 'एक'—'एक' भी पहेली है इसी लिए कि उस का आगे सुलझाव नही है, वह निरी इकाई है—होने और न होने की सीमा-रेखा। उसे सुलझाना चाहने का मतलव है उसे मिटा ही देना।"

सुरेश—[प्रयत्न-पूर्वक विषय को वदल देने के लिए] "शान्ता भाभी, सामने का वगीचा तो देखा, पीछे भी कुछ वना है?"

शान्ता—[सँभल कर, वदले हुए स्वर मे] अभी तो वन रहा है। मगर अँधेरे मे दीखेगा क्या? [जोर से] माली!"

माली—"हाँ, माँजी? का हुकुम है माँजी?"

शान्ता—"उधर क्यारी मे पानी लगा दिया है ?"
माली—"हाँ माँजी—"
शान्ता—"देखोगे तुम लोग ? चलो।"

[उधर जाते हुए स्वर]

सुधा—"उधर चबूतरे के आस-पास तो वेला फूला होगा ?"
सुरेज—"अहा, यह करौंदे की झाडी तो वडी सुन्दर है ! यही वैठ कर कविजी कविता लिखते होगे न ?"
शान्ता—"सो मै क्या जानूँ कि वह कहाँ वैठ कर लिखते है ? लेकिन तुम लोग तो वैठो इस चवूतरे पर।"
सुधा—"तभी तो मैंने तुम से पूछा था कि तुम घर पर रहती हो न ?"
मालती—"फिर तुमने शुरू की वही वात ? कवि की प्रिया घर नही रहती। घर पर रहे तो प्रिया नही है। आज तक कभी सुना है कि किसी कवि ने प्रिया को सामने विठा कर काव्य लिखा हो और वह काव्य सफल हुआ हो ? कवि एक अपार्थिव प्रेम का चित्र मन मे लिये उस चित्र से जीवन का मिलान करते हुए चलता है—और जीवन को घटिया पाता है। उस की एक कल्पना की प्रिया होती है जिसे वह सारी दुनिया मे ढूँढता फिरता है और कभी पाता नही। जीवन मे जो प्रिया मिलती है वह तो मानवी है, उस के कल्पनालोक की देवी थोड़े ही है। वह देवी जो सोच सकती है—यानी कवि की कल्पना मे—वह कोई पार्थिव प्रिया नही सोचती, जो कह सकती है, जैसे-जैसे प्रेम कर सकती है, वह कोई हाड-मांस की प्रिया क्या कर पायेगी ! तभी तो कवि ऐसे तोता-चश्म होते है—अगर उन्हे कल्पना के प्रति सच्चे रहना है तो फिर वास्तव से तो मन फेरना ही होगा, क्योंकि वास्तव तो जिस चीज को वह छूते है वही पाते है कि निरी मिट्टी है, और मिट्टी को ही प्यार करे तो फिर कल्पना विचारी क्या हो ? किसी भी वड़े कवि का जीवन ले लो, उसकी सारी जिन्दगी एक खोज है जिस का नतीजा केवल इतना है कि 'नही। यह

नहीं। यह भी नहीं। यह भी नहीं।' इसी कभी न मिटनेवाली खोज को, कभी न बुझनेवाली प्यास को, कोई कूँची से आँकता है, कोई कलम से लिखता है, कोई छन्दों में बाँधता है, और लोग देख-सुन कर कहते हैं 'कितना सुन्दर! कितना मार्मिक! कैसा दिव्य प्रेम!' कवि को जीवन में आनन्द नहीं मिलता पर यश तो मिलता है, उनकी कीर्ति अमर हो जाती है। पर कवि की स्त्री—मृत्यु के पार अमर होने की बात तो दूर, वह तो जीवन में भी—"

सुधा—"भई मालती, तुम ने तो कमाल कर दिया। अब तो तुम्हें किसी मीटिंग में ले जाकर मंच पर खड़ा कर देना चाहिए। ऐसी फुलझड़ी-सी लगा दी तुम ने तो—"

मालती—"तुम्हें तो हर वक्त ठट्ठा ही सूझता है। पूछो न शान्ता से, वह भी तो हमारी-तुम्हारी उम्र की है, कोई बात है भला कि ऐसी दार्शनिकों की-सी बातें करे? शान्त-स्थिर—होने और न होने की सीमा-रेखा! हुँ मुझे तो ऐसा गुस्सा आ रहा है इन कवियों पर कि—"

सुरेश—"सो तो दीख ही रहा है। लेकिन अब आप गुस्सा मत कीजिए; चाहें तो इस करौंदे की छाँह में बैठ कर कविता कीजिए। [सुधा से] क्यों जी, अब चलना चाहिए न?"

सुधा—"हाँ, बड़ी देर हुई। अच्छा शान्ता बहन, फिर आयेंगे कभी—कविजी से कह देना, कविता जरूर सुनेंगे।"

सुरेश—"नमस्ते, भाभी।"

शान्ता—"हाँ जरूर आना, बहन। वह होंगे तो जरूर सुनायेंगे ही तुम लोगों को। नमस्ते, सुरेश भैया—"

मालती—"मैं भी तो चल रही हूँ भई कि मुझे छोड़े जा रहे हो?"

सुधा—[हँसती हुई] "हमने सोचा शायद तुम्हारा व्याख्यान अभी समाप्त न हुआ हो!"

मालती—"अच्छा शान्ता, मेरी किसी बात का गुस्सा मत करना—"

शान्ता—"वाह गुस्सा कैसा। फिर आना!"

मालती—"हाँ । नमस्ते !"

[जाते है]

शान्ता—[स्वगत] "अव ? [धीरे-धीरे गुनगुनाने लगती है]

"सखी मेरी नींद नसानी हो ।
पिया को पन्थ निहारते सव रैन विहानी हो ।
विन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो ।
सखी मेरी नींद नसानी हो—
पिया को पन्थ निहारते सव रैन विहानी हो ।
रैन विहानी हो' "

शान्ता—[सहसा चुप हो कर] आ गये ! [जोर से] "वैरा ! चाय तैयार करो ! अरे नही—[चौक कर और फिर सुस्थ हो कर] ओह, अशोक !"

अशोक—"पहचानती भी नही, दीदी ?"

शान्ता—"मै समझी थी ."

अशोक—"क्या समझी थी ?"

शान्ता—"कुछ नही । आओ, वैठो ।"

अशोक—[वैठता है] "शान्ता दीदी, अँधेरे मे वैठी क्या रही थी ?"

शान्ता—"कुछ नही, आकाश देख रही थी । मुझे साँझ के वाद आकाश देखना वहुत अच्छा लगता है । कैसे धीरे-धीरे अन्धकार घिरता आता है और धीरे-धीरे सव कुछ पर छा जाता है इस जीवन के इस लोक के सव आकार मिट जाते है एक मौन नि.स्तब्धता मे, और फिर दूर—कितनी दूर !—उदय हो आते है कितने नये लोक और उन के अपने नये आकार ! लोग सूर्यास्त के रंगो को सुन्दर वताते है, लेकिन उससे भी सुन्दर होता है सूर्यास्त की भी लालिमा का मिटना—"

अशोक—"रोज देखते-देखते ऊवती नही, एक ही दृश्य ?"

शान्ता—"ऊवना कैसा ? यह मिटने का खेल तो नित नया है—यही तो एक खेल है जो हमेशा नया है। और इसे देखते-देखते इनसान विभोर हो कर अपने को निरे जीवन पर छोड़ देता है—हम अपने को जीवन पर छोड़ दे सकते है, तभी तो हम जी सकते हैं, उस का हल खोजना ही तो उसे पहेली बनाना है ।"

अशोक—"दीदी, मैं आया तब तुम शायद गा रही थी न ? मैं सोचता हूँ, यहाँ चुपचाप बैठ कर गाना सुनूँगा।"

बेयरा—"चाय तैयार है, सा'ब।"

शान्ता—"लो, पहले चाय पियो।"

अशोक—"दीदी, यही तो बात मुझे अच्छी नहीं लगती। यह भी कोई चाय का समय है भला ? और मैं कोई अजनबी तो हूँ नहीं जो खातिर करें—"

शान्ता—"तुम्ही थोड़े ही पियोगे ? मैं भी तो लूँगी—"

अशोक—"इस में क्या ? रात के नौ बजे हैं। इस समय आपने मेरे लिए चाय क्यों मँगायी ?"

शान्ता—"आपके लिए क्यों ? चाय का आर्डर तो मैं आप के आने से पहले दे चुकी थी।"

अशोक—"ओह, तो आप लीजिए। मैं तबतक आप का आकाश देखता हूँ—मैं तो चाय लूँगा नहीं।"

शान्ता—"नहीं, मैं तो चाय केवल साथ के लिए ही लेती हूँ—मुझे भी इच्छा नहीं रही।"

अशोक—"यह अच्छी रही। आपने चाय मँगायी भी थी, और अब ले भी नहीं रहीं।"

शान्ता—"मैंने अपने लिए नहीं मँगायी थी।"

[बेयरा आता है]

अशोक—"तब ?"

बेयरा—"जी सा'ब—"

शान्ता—"चाय उठा ले जाओ। और बाबा वापस आ गया है न ? साई-किल अन्दर रख दिया है ?"

बेयरा—"जी। बाबा सोने जाते हैं।"

[ट्रे समेट ले जाता है]

अशोक—"शान्ता दीदी, आप जो गाना गा रही थी, वही गाइये।"

शान्ता—"मैं क्या गाती हूँ। वह तो यों ही कभी गुनगुनाती हूँ—"

अशोक—"जो हो—"

[शान्ता बाहर की ओर जाती है, आकाश की ओर देखती है। उस का स्वर दूर से आता है।]

शान्ता—"अच्छी बात है, मैं तो तारे देखते-देखते कभी गुनगुनाया करती हूँ—[धीरे-धीरे गाती है]

"सखी मेरी नीद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते सब रैन विहानी हो।
बिन देखे कल ना परे, मेरी नीद नसानी हो।
सखी मेरी नीद नसानी हो—
पिया को पन्थ निहारते सब रैन विहानी हो।
रैन विहानी हो···"

[गाते-गाते शान्ता का गला भारी हो आता है—फिर आवाज़ सहसा टूट जाती है। एक बार गला साफ करने का शब्द, फिर एक कडी गाती है, फिर गला रुँधता है और वह सहसा चुप हो जाती है।]

अशोक—[सहसा चिन्तित] "क्या बात है, शान्ता दी—"

[बहुत हलकी-सी सिसकी का शब्द]

अशोक—[धीमे, कोमल स्वर मे] "शान्ता दी—"

[क्षण-भर मौन]

[बाहर से निकट आता ताँगे का शब्द और घण्टी]

अशोक—[शान्ता को थोडी देर अकेली छोड देना उचित समझ कर बहाना बनाता हुआ-सा] "शान्ता दी, मैं जरा मुन्ने को देख आऊँ, नही तो अभी सो जायेगा। अभी आया।"

[बाहर दूरी पर ही कवि का शब्द, क्रमशः निकट आता हुआ]

कवि—"ओह, शान्ता। मुझे अभी तत्काल फिर बाहर जाना होगा, जरा जल्दी से एक प्याला चाय दे दोगी—"

शान्ता—[सँभल कर] "जी।"

[भीतर जाती है]

[भीतर से बालक की हँसी का शब्द]

बालक—[भीतर से] "बस, अशोक मामा, गिलगिली मत चलाउये—"

अशोक—"तो तुम बोलते क्यो नही ?"

कवि—"अरे कौन, अशोक ? [जोर से] अशोक !"

अशोक—[भीतर मे] "आ गये आप ?"

कवि—"अरे यहाँ आओ यार, दो मिनिट गप्प ही करे, अभी तो चला जाऊँगा।"

अशोक—[निकट, विस्मित स्वर मे] "कहाँ ?"

कवि—"यही जरा बैठो। चाय पियोगे ?"

अशोक—"नही, इस समय नही।"

[भीतर मे शान्ता के गुनगुनाने का स्वर, जो क्रमश. कुछ स्पष्ट हो जाता है]

शान्ता—[गाती है]

"सखी मेरी नीद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते सब रैन विहानी हो।
ज्यो चातक घन को रटै, मछरी जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल विरहिनी, सुधबुध विसरानी हो···"

कवि—[अर्ध स्वगत] "फिर वही गाना।"

अशोक—"क्यो, आप को गाना अच्छा नही लगता ?"

कवि—"नहीं, गाना क्यो न अच्छा लगेगा, पर शान्ता वही एक ही रोने-रोने सुर गाती है।" [सहसा चुप हो जाता है।]

[शान्ता का स्वर स्पष्ट हो गया है, वह पास आ रही है।]

"सखी मेरी नीद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते सब रैन—"

[गान सहसा बन्द हो जाता है।]

शान्ता—"लीजिए, चाय !"

नगा पर्वत की एक घटना

"मेरी समझ मे तो समस्या इस से अधिक गहरी है। आप उसे जिस रूप मे देख रहे है, उतनी ही बात होती तब तो कोई बात न थी।" कप्तान अर्जुन ने समर्थन के लिए कप्तान वासुदेवन् की ओर देखा।

"हॉ, फौजी जीवन आदमी को इतना अनुशासनाधीन बना देता है कि फायर का हुक्म मिलते ही वह गोली दाग देता है, उचित-अनुचित कुछ नही सोचता; यह तो कोई इतनी बड़ी बुराई नही है। क्योकि ऐसी डिसिप्लिन तो हम चाहते ही है, और जो चाहा जाये उस का हो जाना क्यो बुरा?"

"पर चाहना तो बुरा हो सकता है?" कप्तान चोपड़ा बोले, "क्या आदमी को ड्रिल करा-करा के ऐसा यन्त्र बना देना, कि उस की मॉरल जजमेण्ट बिलकुल बेहोश हो जाये, बड़ा पाप नही है? यही तो फौजी जीवन करता है!"

"इस से किसे इन्कार है? अपनी जजमेंट को दूसरो की जजमेंट के अधीन कर सकना सिपाहीगीरी के लिए जरूरी है। लेकिन ऐसा सिर्फ फ़ौज मे ही तो नही होता, यह तो हमे हर क्षेत्र मे करना पड़ता है।" वासुदेवन् ने उत्तर दिया।

ज्यादा बड़ी आलोचना है। यह क्या कम बात है कि छह हज़ार बरस की संस्कृति में—वासुदेवन्, छह हज़ार बरस ठीक है न ?—पैदा हुआ नैतिक बोध छह महीने की फ़ौजी ड्रिल से ऐसा पस्त हो जाये कि हम बिना सोचे-समझे चाहे जिस की जान ले डालें ?"

"नहीं, बोध बिलकुल तो नहीं मर जाता। ऐसे भी तो केस होते हैं जहाँ फ़ौज गोली चलाने से इन्कार कर देती है, जैसे सिविलियनों पर, या औरतों पर—आख़िर वह नैतिक बोध ही तो होता है न ?"

"हाँ, मगर वह इस लिए कि डिसिप्लिन में ऐसे अपवाद रखे जाते हैं। शिक्षा में दुश्मन की बात सामने लायी जाती है, और आम तौर पर 'दुश्मन' का अर्थ फ़ौजी ही लिया जाता है। बल्कि सिविलियन शत्रु नही है, या कि उसे नरमी से जीता जावे, ऐसी शिक्षा भी दी जाती है।"

"यानी आप कह रहे हैं कि अगर ट्रेनिंग मे यह भी होता कि दुश्मन ही दुश्मन नही, दुश्मन के सिविलियन और औरत-बच्चे भी दुश्मन हैं, तो उन को भी मारने मे फ़ौजी को झिझक न होती ?"

"बिलकुल, और इस समय लड़ाई मे इस की मिसाले भी कम नहीं हैं। जर्मनी के कंसेंट्रेशन कैम्पों में—"

"तो क्या नैतिक जजमेंट बिलकुल मर जाता है ? मगर—"

"मरता है, या बेहोश भी होता है कि नही, पता नही। कहे कि वह स्थगित हो जाता है या दूसरे पर टाल दिया जाता है। और टाल देना मानव-मात्र का सहज स्वभाव है, फ़ौज का उस मे कोई हाथ नही।"

"मेजर वर्धन, आप की क्या राय है ?"

वासुदेवन् कुछ कहना चाहते थे। पर मेजर से प्रश्न पूछा गया था, उत्तर के लिए रुके रहे। मेजर वर्धन ने सहसा उत्तर नही दिया; अन्य अफसरों ने देखा कि वह चुपचाप आगे को झुके हुए आग की ओर स्थिर दृष्टि से देख रहे हैं। आग की लपटें जैसे-जैसे उठती-गिरती थी, वैसे-वैसे उन के चेहरे पर एक अजीब धूप-छाँह खेल उठती थी, उन के चेहरे पर एक क्लान्ति, एक उदासीनता का भाव तो था, पर उस के पीछे जैसे कहीं एक धीर करुणा भी छिपी हुई थी, ऐसी करुणा जो जानती है कि वह अपर्याप्त है, लेकिन फिर भी हार नही मानती, जैसे निर्धन माँ, पूस-माघ

की सर्दी मे अपने सर्वथा अपर्याप्त फटे आँचल को बच्चे पर उढ़ा कर, आँचल के सहारे उतना नही जितना अपनी लगन के सहारे उसे ठिठुरने से बचा लेना चाहती हो…

फौज से छुट्टी पाकर ये परिचित अफसर कभी-कभी एक्स-सोल्जर्स क्लब के छोटे कमरे मे आ बैठते थे। तीनो कप्तानों ने अपने को सिविलियन जीवन मे भी कप्तान कहने के अधिकार का उपयोग किया था, मेजर वर्धन अब अपनी 'मुफ्ती' पोशाक मे 'मिस्टर वर्धन' रहना ही पसन्द करते थे, पर अभ्यासवश बाकी उन्हे मेजर कह ही जाते थे…

सहसा सन्नाटे मे जैसे चौक कर वह बोले—"मेरी राय तो तुम लोग जानते हो। असल मे हम लोग युद्ध की ओर ही ध्यान दे, तो ज्यादा अच्छा है। फौजी जीवन के दोष देखने से हमारी दृष्टि स्खलित हो जाती है।"

"लेकिन क्या दोनों एक-दूसरे में निहित नही है ? फौजी जीवन और युद्ध को अलग कैसे किया जाये—युद्ध के लिए ही तो फ़ौजी जीवन है !"

"हाँ, लेकिन यह साध्य और साधन वाले झमेले मे पड़ना है। यह ठीक है कि साधन की भी परख होनी चाहिए; अच्छे साध्य के लिए लग कर भी बुरा साधन बुरा है। मगर असल मे तो साध्य ही बुरा है। साधन तो शायद—उतना बुरा न भी हो।"

"यानी आप नही मानते कि फौजी जीवन आदमी को नीचे खीचता है ?"

"हाँ—और नही। अनुशासन उसे मशीन—या कि सधा हुआ पशु या शिशु बनाता है, यही ठीक है। लेकिन एक तो हम इच्छा से यह परिणाम चाहते है, जैसा कि वासुदेवन् ने कहा, सधा हुआ पशु मानव से ऐसा बुरा ही है, यह दावा करना दम्भ नही है ?"

तीनों ने कुछ चौकी हुई दृष्टि से मेजर की ओर देखा, मानो कहना चाहते हो, "आप से ऐसी बात की आशा नही थी।"

मेजर वर्धन ने कहा : "आप सोचते होगे कि मै सिनिकल हो रहा हूँ। नही। सचमुच सधे पशु के लिए मेरे मन मे सम्मान है और यह भी मै मानता हूँ कि वह उतना अधिक बुरा नही हो सकता जितना कि युद्ध की परिस्थितियों मे मनुष्य हो सकता है, और मनुष्य भी कोई विकृत मन वाला

खूँखार प्राणी नही, सीधा-सादा, भाई-वहिन, जोरू-बच्चो के बीच रहने वाला, दस से छह तक दफ्तर मे—या छह मे दस तक खेत मे—खटने वाला अत्यन्त मामूली मनुष्य, जैसे कि फौजी आम तौर पर होते है। इसी लिए जहाँ आदमी पशु वन जाता है, वहाँ मैं उसे उतना खतरनाक नही मानता। फौज की डिसिप्लिन केवल इतना करती है, इस से वदतर कुछ नही। लेकिन युद्ध‥"

"यह तो ठीक है कि युद्ध जो करता है, वह फौजी जीवन नही करता। मगर युद्ध से आदमी के गुण भी तो उभरते हैं‥‥" चोपड़ा ने कहा।

"हाँ, वैसा भी होता है। और वह भी होता है कि जिन के गुण उभरते है वे आगे जा कर मर जाते हैं, और जिन के ऐव उभरते है वे जान वचा कर लौटते है। 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' आज भी उतना ही सच है, मगर 'जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'—न मालूम ! वल्कि जयी आजकल क्या भोगता है, कोई कह नही सकता।"

"लेकिन आप यह क्यो कहते है कि मनुष्य पशु से वदतर हो जाता है ?"

"यो तो 'मनुष्य जव पशु होता है तव पशु से वदतर होता है‥' यह आपने सुना ही है। क्योकि पशु पशु हो कर अपने पद पर है, और मनुष्य अपदस्थ, पतित। मगर आप को इस पर आपत्ति क्यो है ? यह वताइए कि जव आप कहते है कि मनुष्य सधा हुआ पशु है, तव आप का अभिप्राय क्या होता है ?"

कप्तान अर्जुन धीरे-धीरे वोले—"यही कि वह अपना विवेक छोड कर सिर्फ अनुशासन पर चलता है—हुक्म दो 'गोली मारो' तो गोली मार देगा, 'आग मे कूदो' तो आग मे कूद पडेगा। कभी झिझक भी हो सकती है, डर से, पर अगर पशु ठीक सधा है तो डर रहते भी कूद पडेगा।"

"और अनुशासन से डर को दवाने के कारण ही फौज मे इतने मेंटल केस होते है"—चोपडा ने दाद दी।

"हाँ, ठीक है। तो सधा हुआ मानव-पशु अपनी सहज इच्छा या विवेक के ऊपर दूसरे की इच्छा या विवेक को मान कर उस के अनुसार चलता है ! यानी मानव का जो अपने विवेक को अमल मे लाने का कर्तव्य है, उसे

वह—चलिए, ताक मे रख देता है कुछ काल के लिए। यह फौजी अनुशासन की देन है। पर अगर वह पशु अनुशासन के नाम पर अपने नैतिक बोध को, सदसद्-विवेक को ताक मे रख दे, और फिर सहज पशु-प्रवृत्ति की झोक मे अनुशासन को भी भुला दे···तव ? तव तो वह पशु से वदतर है न ?"

वासुदेवन् ने तनिक मुसकरा कर कहा : "पशु-प्रवृत्ति मे वहने वाला तो पशु ही हुआ; पशु से वदतर कैसे कहेगे—"

"हाँ, मगर सधा हुआ पशु वह नही है : और हम यह मान ले रहे हैं कि अशिक्षित पशु शिक्षित पशु से वुरा है। और युद्ध फौज के शिक्षित पशु को अशिक्षित वना देता है।"

वासुदेवन् ने वात को हलका करने के लिए कहा, "वर्न्स ने कॉलेज की शिक्षा की वुराई तो की है पर फौजी शिक्षा की ओर उस का ध्यान नही गया !"

चोपडा ने दिलचस्पी से पूछा, "क्या प्रसग है यह ?"

"वह है न—कि अहम्मन्य मूर्ख कॉलेजों मे अपना दिमाग खराव करते हैं—दाखिल होते है वछेडे, लेकिन निकलते है पूरे गधे—"[1]

"हाँ !" कह कर चोपडा ने ठहाका लगाया।

"मगर एक वात है, वर्न्स ने पशु को और घटिया पशु वनाया, मनुष्य को पशु नही।"

"हाँ, क्योकि वह कॉलेज की पढ़ाई की वात थी—उस में इस से ज्यादा ताक़त नही है। मगर जंग"—मेजर वर्धन ने फिर वातावरण गम्भीर कर कर दिया। फिर मानो उन्हे स्वयं ध्यान आया कि क्लव के सामाजिक वातावरण को हलका ही रहना चाहिए, और वह सहसा चुप हो गये।

कप्तान चोपडा थोडी देर उन्हे देखते रहे, मानो सोच रहे हो कि उस

---

1. A Set of dull conceited hashes
Confuse their drains in college classes.
They gang in stirks and come out asses

—Robert Burns

मौन को तोडना उचित है या नही। फिर उन्होने पूछ ही डाला, "मेजर वर्धन, आप की वात से मै पूरी तरह कर्नविंस तो नही हुआ, मगर ऐसा लगता है कि आप किसी घटना के परिणाम से ऐसा कह रहे है। और घटनाओ का तर्क भी एक अलग तर्क है ही।"

कप्तान अर्जुन भी वढावा देते हुए वोले, "और अपने ढंग का अकाट्य तर्क ! मुनाइए, हम सव मुन रहे है !"

मेजर वर्धन ने एक वार तीनो की ओर देखा, फिर एक स्थिर दृष्टि से आग की ओर देख कर वोले, "हाँ, घटना का अपना अलग तर्क होता है। जो घटना अभी मेरे ध्यान मे आयी थी, वह मेरी वात की पुष्टि करती है या नही, न जाने; मगर उस को समझा जा सकता हे तो उसी के भीतर तर्क के आधार पर, नही तो इन्सान ऐसा अनरीजनेव्ल कैसे हो सकता है समझ नही आता। आखिर पशु-वुद्धि भी तो वुद्धि है—"

थोडी देर सन्नाटा रहा। चारो आग की ओर देखते रहे। मेजर वर्धन के चेहरे की रेखाएँ कडी हो आयी, मानो उन की स्थिर दृष्टि आग मे कुछ देख रही हो और निश्चलता के जोर से उसे पकड़े रहना चाहती हो··· फिर उन की मुद्रा तनिक-सी पसीजती जान पडी, मानो वात कहने का ही निश्चय कर के उन्हे कुछ तसल्ली मिली हो।

"वात कोहीमा की है। यानी ठीक कोहीमा की नही, कोहीमा और जमामी के वीच के इलाके की, डि-चिड् के पार जो खुमनुवाटो का शिखर और जगल है, वही की। मै कोहीमा की इसलिए कहता हूँ कि मै तव ३३ डिविजन के साथ कोहीमा और जुवजा के वीच डिव-हेडक्वार्टर मे पड़ा हुआ था।" वह क्षण भर रुके, फिर कहने लगे, "वासुदेवन्, तुम तो आगे थे —और अर्जुन तो डीमापुर मे रहे—यह तो तुम्हे मालूम है कि मै डीमापुर से इटलिजेस के लिए आगे गया था—"

"हाँ, वह तो ऐसा गुपचुप कुछ काम था कि हम सव को वड़ा कौतूहल रहा। फिर हमने सोच लिया कि कोहीमा के पार जापानी लाइन के पीछे जासूसी करने जा रहे है। यह तो हमे मालूम था कि नगा स्काउटो की एक टोली तैयार हुई है, और यह भी सुना था कि उसके कुछ जवान आप के साथ जायेंगे—"

"हाँ, था तो गुपचुप ही। वल्कि जो वात वताने जा रहा हूँ, वह भी उसी दरजे की है—टॉप सीक्रेट। और अगर वह मेरा या हिन्दुस्तानी फ़ौज का सीक्रेट रहा होता तो मै शायद अव भी उस की वात न करता—पता नही अव भी वह कहानी कहना फौजी कानून के खिलाफ़ है कि नही। पर जो हो, सुन कर तुम लोग खुद तय करना कि आगे कही जाये या नही। मुझे तो यह वात अचानक ही एक अमेरिकन से पता लगी—हालाँ कि थी शुरू मे वह मेरी ही वात।"

"आप हमें भडकाने के लिए पहेलियाँ बुझा रहे है!"

"नही। तुम्हे मालूम नही, उन दिनो जापानियो के साथ वहुत-से आजाद हिन्दी भी शामिल हो गये थे, इस से अँगरेज़ो के मन मे वडा डर वैठा हुआ था। भेद-भाव तो यों भी था, पर इस डर से इंटलिजेस के वहुत-से काम सिर्फ अँगरेजो-अमेरिकनों को सौपे जा रहे थे, भले ही हिन्दुस्तानी उसके लिए ज़्यादा उपयुक्त हों। मै भी जो नगा जासूसो के साथ गया तो मेरे साथ एक अमेरिकी कर्नल भी था, अमेरिकी इंटलिजेस का, जो जापानी भाषा भी जानता था। और हम गये भी उस इलाक़े मे, जिधर सिर्फ़ जापानी थे कोहीमा से उत्तर तेर्हेमत्सेमिन्यू वाले इलाके मे। दक्षिण मे जहाँ यह खयाल था कि जापानियों के साथ हिन्दी भी है वहाँ किसी हिन्दुस्तानी को नही भेजा गया—उधर सव व्रिटिश अफसर थे।"

"हाँ।"

"तो उस इलाके मे भटकते हुए मुझे एक वात सूझी। उधर का जंगल ऐसा दुर्गम था और अंगामी नगा जातियो के इलाके मे ऐसी खेती-पट्टी कुछ होती नही कि जापानी लोग लूट-खसोट कर खाते रहे और टिके रहे। आये तो वे इसी भरोसे थे कि पहले लूट-पाट कर खाते रहेगे, फिर डीमापुर पर कब्ज़ा हो जायेगा तो वहाँ ढेरो रसद जमा होगी ही—हम आख़िरी वक्त तक उसे वचाने का लोभ जरूर करेंगे। तो मुझे यह सूझा कि नगा पहाडियो मे नगे तो कन्द-मूल और वूटियाँ खा कर रह भी ले, जापानी तो ये सव बाते जानेगा नही, जव नगा गाँवो का थोड़ा-वहुत चावल और वकरी-कुत्ते खा चुकेगा तव भूखे पेट वडी जल्दी डिमॉरलाइज़ होगा। और वैसे अर्धवर्वर का हौसला जव गिरता है तो धीरे-धीरे फिसलता नही, एक

दम नीचे आता है। ऐसे मे अगर उस मे यह प्रचार किया जाये कि वह आत्म-समर्पण कर दे तो उस की जान भी बचेगी और खाना भी मिलेगा, तो—

"हाँ, विकट लडाका था जापानी। पकड़ा नही जाता था—मरता था या आत्मघात कर लेता था। मैंने एक बार पाँच-छह कैदी जापानी देखे—वैसा पस्त जन्तु मैंने कभी नही देखा होगा। उन की आँख नही उठती थी! उन्हे कैद का दु ख नही था, यह था कि वह आत्मघात न कर सके, पहले पकडे गये। मगर यह भी बात थी कि उन्हे सिखाया जाता था कि पकडे न जाये, नही तो बडी दुर्गति होगी और यह बात उन की समझ मे भी आ जाती थी, क्योकि वे खुद कैदियो की बडी दुर्दशा करते थे—कम-से-कम कई बार तो जरूर। जो हो, मुझे यह सूझा कि यहाँ खाइयो मे जो दो सौ-तीन सौ जापानी कीचड, मच्छर, जोकों मे पड़े सड रहे है, तिस पर खाने को चावल-मास कुछ नही और पीने को गँदला पानी जो पियो और पेचिश से मरो, और एक बडी बात यह कि दुश्मन कही दीखता नही—क्योकि उस घने जगल मे जहाँ दिन मे भी अँधेरा-सा रहता था, दो सौ गज दूर पर दुश्मन की खाइयाँ हो सकती थी, और चिल्लाये तो एक-दूसरे की आवाज सुन सकते थे। ' तो ऐसी हालत मे अगर लाउड-स्पीकर से जापानियो मे प्रोपेगेंडा किया जाये तो शायद बहुत असर हो—हत्याकाड भी बचे। मुझे यह विचार ही उन जापानी कैदियो को देख कर आया था, क्योकि उन्ही से जापानी बुलवाने की बात सूझी थी।"

"मगर कैदी क्या कभी राज़ी होते?"

"यह तो कोशिश करने की बात थी। बाद मे हुए भी। मैंने उस अमेरिकी कर्नल को अपनी योजना बतायी तो उसने भी कहा कि कोशिश कर के देखना चाहिए—उसने यह भी कहा कि उस के साथ दो अमेरिकी सार्जेण्ट हैं जो वैसे तो जापानी है मगर अमेरिकी नागरिक हैं और अमेरिकी फौज मे हैं, ये लोग खुद भी ब्रॉडकास्ट कर सकेंगे और करा भी सकेंगे—और ऐसी तो कई जगहे होगी जहाँ आमने-सामने खाइयाँ हो। उस के प्रोत्साहन से मैंने योजना बना कर डीमापुर मे एरिया कमाडर के पास आगे जी. एच. क्यू. के लिए भेज दी। फिर बैठ कर प्रतीक्षा करने लगा कि आगे कुछ

हो। हफ्ता हुआ, दो हफ्ते हुए—तीन हफ्ते हुए—महीना हो गया। मोर्चा सँभल गया, जापानी रुक गये, ३३ डिवि. हवाई जहाज से जोरहाट पहुँचा और आगे बढने लगा, सूने कोहीमा पर दोनो ओर से गोले बरसने लगे। कभी उन के जीरो आ कर बम गिरा गये, कभी हमारे टैंक बढ़े तो कोहीमा के परले मोड तक बढते गये, मगर मोड़ से मुडते ही पार की पहाडी से ऐसे जोर की गोला-बारी होती कि बस। तो हुआ यह कि बीच मे कोहीमा कस्बे की पहाड़ियो पर न वे न हम, उधर परली पहाडी मे ऊपर नगा बस्ती मे जापानी, इधर जुबजा के आगे की जंगल-ढँकी पहाडी पर हम। और मैं यह सोचता रहा कि जी. एच. क्यू. वाले इतनी देर कर रहे हैं—अमल करने का वक्त तो फिर निकल जायेगा। अन्त मे मैंने जनरल को कहा कि याद दिलावे।"

"एक महीना तो बहुत होता है सचमुच—"

"रिमाइंडर का जवाब चौथे दिन आ गया।" मेजर वर्धन ने तनिक रुक कर साथियो की ओर देखा। चोपड़ा ने कुछ अधैर्य से कहा, "क्या?"

"कहा गया कि यह योजना 'आइडिया ब्राच' को भेज दी गयी है। वहाँ उस पर विचार हो जायेगा, हमें आगे याद दिलाने या पूछने की जरूरत नही है।"

"यह खूब रही!"

"और दो हफ्ते हो गये। अन्त मे मैंने समझ लिया कि मेरी योजना व्यावहारिक नही समझी गयी। मैंने भी उसे मन से निकाल दिया। इस बीच उस अमेरिकी कर्नल से अलग भी हो गया था—डीमापुर वापस बुलाये जा कर वह किसी दूसरे और भी गुपचुप मिशन पर भेज दिया गया था, और मैं ३३ डिवि. के साथ कर दिया गया था; एडवास के लिए इलाके की जानकारी उन्हे देने के लिए। ३३ डिवि. पूरा गोरा डिवि. था—लडाके अच्छे, मगर नगा पर्वत के भूगोल ओर नगा जाति के मामले मे बिलकुल सिफर। लेकिन डिवि. का हरावल जब कोहीमा मे घुसा, और दो-तीन दिन मे मुर्दो को हटा कर उस मटियामेट ढूह मे हमने किरमिच के वासे खडे कर लिये, तो हमने पाया कि इधर डीमापुर से एक अमेरिकी अस्पताली टोली आयी और इधर-उधर से बीस-एक नगा बाँको को साथ लिये वही अमेरिकी

कर्नल। मुझे मालूम हुआ कि वह पहले डीमापुर से रेल से ही मरियानी चला गया था, वहाँ से मोकोक्चङ् की ओर से नगा पर्वतों मे घुसा, पहले आव जासूसो के साथ, फिर अंगामियो के; और उधर से बढता हुआ लोङ्सा से दक्खिन को उतरता हुआ चिपोकेटामी से फाकेकेड्ज़्मी की ओर जा रहा था, खुई-वी तक गया भी था, लेकिन उस के आगे की स्थिति स्पष्ट नही थी इस लिए लौट आया। अव अगर ३३ डिवि. कोहीमा के पूरव जसामी वाली सडक से वढेगा तो वीच के इलाके का महत्त्व भी नही; जापानी या तो पीछे हटेगा या वीच में फँस जायेगा, और अगामी फिर किसी को छोडने के नही—एक तो यो ही वे परदेशी को धँसने नही देते, फिर जिसने उन के घर जलाये हो, खलिहान लूटे हो, औरतो को वेइज्जत किया हो उन को तो वे भून कर खा जायेंगे। वातचीत के सिल-सिले मे मैंने अपनी योजना की वात छेडी, और कहा कि जी. एच. क्यू. वाले भी अजीव है, जहाँ छह हफ्ते आइडिया व्राच एक आइडिया को सेती रहती है। कर्नल ने एक तीखी नजर मुझ पर डाल कर कहा, 'ओ, फ़र्गेट इट्, वर्धन।' मैंने फिर कहा, 'खैर, आइडिया तो अव गया ही, पर आखिर जी. एच. क्यू. का सगठन क्या है ? न ही अच्छा हो आइडिया, एक वार आजमा कर तो देखते ? फिर मैंने खुद आगे जा कर प्रयोग करने के लिए वालटियर किया था।' अव की वार उसने और भी निश्चयात्मक स्वर मे कहा, 'आ पाइप डाउन!' और मेरे जिद करने पर वोला, 'वह आइडिया सडा हुआ था—इट स्टैंक!'

"मुझे अचम्भा हुआ, कुछ धक्का भी लगा। मैंने कहा, 'कर्नल, जव मैंने पहले आप को वताया था तव तो आप को वह ऐसा सडा हुआ नही मालूम हुआ था—'

"अव की वार उसने फिर मेरी ओर तीखी दृष्टि से देखा, और पूछा, 'तुम्हे सचमुच नही मालूम कि उस आइडिया का क्या हुआ?' मैंने और भी विस्मय से कहा, 'नही तो—'

"तव वह बोला, "ऑल राइट, आई'ल टेल यू। वैसे जितना सिक्रेट वह तव था, जव तुमने वताया था, उस से ज्यादा सिक्रेट अव हो गया है—क्योंकि—वह आजमाया जा चुका—'

"मै सन्नाटे मे आ गया। 'कब ?'—'और—असफल हुआ ?'

"मैने पूछा, 'आप को कैसे मालूम है ?' बोला, 'वही मेरा हश-हश मिशन था।'"

तीनो श्रोताओं ने चौक कर कहा, "रीएली, मेजर वर्धन ! ऐसी बात थी ?"

"हॉ, मै हक्का-बक्का एक मिनिट उस की ओर देखता रहा। फिर मैने कहा, मेरी कुछ समझ मे नही आया, कर्नल ! शुरू से कहिए।'

"वह कहने लगा, 'हॉ शुरूसे ही कहता हूँ। वैसे शुरू तो तुम्ही जानते हो; तुम जो सोच रहे हो कि आइडिया ब्रांच वाले गुम हो कर बैठ रहे, वह बात नही थी। लेकिन—' वह थोड़ा-सा झिझका, लेकिन मै उस का भाव ताड गया। मैने कहा, 'ओह, मै समझा। शायद उन्होने सोचा कि इस आइडिया की जॉच हिन्दुस्तानी को नही सौंपनी चाहिए। यही न ?"

"हॉ, मुझे डर है कि यही। जो हो, मुझे यही आज्ञा मिली। इधर से तो मोकोक्चङ् गया, वहॉ आदेश मिला। उधर से फ़ौजे आगे बढ रही थी, सब ब्रिटिश ही थी, थोड़ी-सी अमेरिकी टुकडियॉ थी, बस। उन के साथ बढते हुए हम साटाखा से नीचे खुड-वी पहुँचे, खुड-वी के पास ही खुमनुब्राटो शिखर है और उस की ढाल पर भारी जगल। दूसरी पार जुल-हामी मे और साथाजूमी मे जापानी थे, यह हमे मालूम था, पर जगल मे अजीब खिचडी थी। कही हमारी खाइयॉ, कही दुश्मन की, हमे तो कुछ पता न लगता पर वे अगामी जवान तो जैसे हवा सूँघ कर दुश्मन पहचानते थे, उन्ही के भरोसे हम बढते थे। यानी आइडिया की जॉच के लिए वह आइडियल जगह थी।'

"मेरा कुतूहल बढता जा रहा था। मैने पूछा, 'फिर···जाँच हुई ?'

'हॉ, हुई।' उसने कहा, फिर कुछ सोचते हुए, 'मगर कैसी जॉच ! यो तो खैर बहुत ठीक जगह थी। इधर जहॉ हमने लाउड-स्पीकर फिट किये वहॉ टामियो की खाई थी। दो कम्पनियॉ सात दिन से उस खाई मे थी; चार दिन से बारिश होती रही थी और उन की हालत ऐसी हो रही थी··· कि कुछ पूछो मत। तुम्हे तो कुछ खुद ही अनुभव है'—कह कर वह थोड़ा हँस दिया, क्योकि कीचड़ से लदफद कही रुक कर सब कपड़े उतार कर

जोकें ढूंढने का काम हम साथ कर चुके थे। मच्छर में तो मच्छरक्रीम बचा लेती, पर कीचड और जोक मे बचाव नही था ! फिर उसने कहना शुरू किया, "टामियो की हालत देख कर मैंने उन्हे बताया कि हम जापानियों को सरेंडर करने को कहने वाले है—मैंने सोचा कि इस से उनके ऊबे और हारे हुए मन को कुछ सहारा मिलेगा। सात दिन से वहाँ पडे-पडे उन का खाना-पीना-सोना सब खाई मे ही हो रहा था, इतने दिन में उन्हे एक भी जापानी नही दीखा था। लेकिन बाहर निकलकर आगे बढने या झाँकने की भी सख्त मनाही थी क्योकि यह सब जानते थे कि सामने बहुत पास दुश्मन है। जापानी की घात मे बैठे सड रहे है, पर जापानी है कि दीख कर नही देता, यही हाल था। उधर जापानियो का भी ठीक यही हाल होगा, यह तय बात थी। बल्कि बदतर, क्योकि हमारी लाइन मे कम से कम रसद-पट्टी तो ठीक-ठीक थी, और वे कमबख्त खाने-पीने से भी लाचार थे—उन की सप्लाई सर्विस ही नही थी ! मैंने लाउडस्पीकर लगा दिये, और एकाएक पूरे जोर से जापानी मे ब्राडकास्ट शुरू हो गया।'

"मैंने पूछा, 'फिर ? क्या असर हुआ ?' वह बोला, 'पहले तो आवाज होते ही जोरो से मशीनगनो से गोलियो की बौछार हुई। इसका इमकान ही था, हमने खाई से दूर-दूर दो-तीन लाउडस्पीकर लगाये थे, कभी कोई बोलता था कभी कोई। फिर धीरे-धीरे बौछार कुछ मद्धिम पडी, मानो अनमनी-सी हो गयी—जैसे वे बीच-बीच मे सुन रहे हो। हमने और जोरो से चिल्लाना शुरू किया—तुम हार गये, तुम्हारी मौत निश्चित है, गोली से नही तो भूख और बीमारी से, जोकों से खून चुसवाना सिपाही का काम नही है, हथियार डाल कर इधर चले आओ ! इधर तुम्हारी जान भी बचेगी, खाइयों से छुट्टी भी मिलेगी, अच्छा खाना मिलेगा—जो आत्म-समर्पण करेगा उसकी प्राण-रक्षा करने की हम शपथ लेते है, वगैरह। इधर कम्पनी कमाडरो को बता दिया गया था कि जो जापानी आत्म-समर्पण करने आये—निहत्थे या हाथ उठा कर उन्हे आने दिया जाये, बन्दी कर के आराम से रखा जाये, और फिर उन्ही से आगे ब्राडकास्ट कराया जाये।"

मेजर वर्धन साँस लेने रुके। फिर उन्होने जैसे जागते हुए पूछा, "तुम लोगो का क्या खयाल है—अपील का क्या असर हुआ ?"

[illegible] से कहा, "ऐसी [illegible] में तो असर होना चाहिए था [illegible] आप [illegible] कह चुके हैं कि [illegible] हुई थी ।"

मेजर साहब फीकी हँसी हँसे । "हाँ असर [illegible], [illegible] असर हुआ । [illegible] नहीं [illegible] योजना हुई थी ।"

तीनों प्रतीक्षा में चुप रहे । मेजर साहब फिर कहने लगे — "[illegible] [illegible] नहीं [illegible] का नाम था — मुझे बताया, [illegible] के बाद [illegible] [illegible] जापानी [illegible] [illegible] और आगे बढ़ने लगे । मुझे [illegible] में भी [illegible] नहीं था कि [illegible] इतना असर होगा — बाद में मालूम हुआ कि [illegible] ही आदमी [illegible] [illegible] का [illegible] किया [illegible] पर [illegible] जापानियों [illegible] और [illegible] — जापानी [illegible] की ओर [illegible] लगे ।

"मैंने कहा, '[illegible] [illegible] रही !' वह बोला, '[illegible] था कि [illegible] ।' और चुप हो गया । मैंने पूछा, '[illegible] ?' तो [illegible] बोला, '[illegible] ही [illegible] नहीं [illegible] पहचानी गयी, और, [illegible] कहा कि [illegible], [illegible] ही एक [illegible] । [illegible] के [illegible] ख़िलाफ़, [illegible] और [illegible] !'

"मैंने कहा, 'हाँ !' और [illegible] की ओर [illegible] गया । [illegible] दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा, 'हाँ । [illegible] थी, [illegible] थी, अभी मैं [illegible] नहीं [illegible] था कि [illegible] जापानी [illegible] हो गये — [illegible] । [illegible] न [illegible] पाये होंगे, [illegible], [illegible] और बाद में अस्पताल में [illegible] । [illegible] हो गया ।'

होगा !' वह थोडी देर चुप रहा। फिर बोला, 'लेकिन—इस तरह योजना फेल कर गयी—दुबारा मौका नही मिला। हमने फिर भी कोशिश की, मगर विश्वास उठ गया था। हर अपील पर और जोर की बौछार होती, हमारे लाउडस्पीकर भी उडा दिये गये। हमारी रिपोर्ट पर कमाड से हुक्म आया कि आइडिया ठप्प है, और इस प्रयोग का कही जिक्र न किया जाये।' मैं सुन कर चुप रह गया ··मेरे आइडिया का क्या हुआ था, मेरी समझ मे आ गया।"

मेजर वर्धन चुप हो गये। तीनो साथी थोडी देर तक प्रतीक्षा करते रहे, फिर वासुदेवन् ने कहा, "मै सोचता हूँ, उन जापानियो के मन की क्या हालत रही होगी उस वक्त !"

अर्जुन ने बात काट कर कहा, "उन की ही क्यो, टामियो की मानसिक अवस्था भी स्टडी के लायक रही होगी—उस वक्त भी, और फौरन बाद भी जब उन्हे मालूम हुआ होगा कि अपनी बेवकूफी से ही लडाई कुछ और लम्बी हो गयी—या कम से कम उन की मुसीबत—"

मेजर वर्धन ने कहा, "जापानियो के मन की हालत की कल्पना कम मुश्किल है। टामियो की अधिक मुश्किल !"

सहमा चोपडा ने कहा, "लेकिन मेजर, अगर कहानी उतनी ही है तो इस का हमारी बहस से क्या सम्बन्ध है ?"

वर्धन ने मानो बात न सुनी हो, अपनी ही बात के सिलसिले मे वह कहते गये, "लेकिन कल्पना ज्यादा मुश्किल इस लिए नही है, कि हम टामियो के मन की हालत कम जानते हैं और जापानियो की अधिक। बल्कि इस से उलटा। जहाँ ज्ञान कम होता है वहाँ कल्पना सहज होती है। टामियो की मनोदशा की कल्पना इस लिए मुश्किल है कि हम उसे ठीक-ठीक जानते हैं—एक दम ठीक, अलजेब्रा की इक्वेजन की तरह।"

चोपडा ने आग्रह किया, "यह तो और पहेली है। लेकिन हमारी बहस—"

मेजर वर्धन ने कहा, "ओ हाँ, हमारी बहस ! हाँ, जो जापानी आये वे—पशु थे, सधे हुए पशु, यन्त्र की अपील थी, सुनने वाला भी यन्त्र था—विवेक सोया या मरा या स्थगित जो कह लो या, भूख, नीद, सूखे कपड़े

की आस, प्राणों का आश्वासन··· ये उस पशु को खीच लाये। ठीक है न?"

"वैसी परिस्थिति मे आत्म-समर्पण अस्वाभाविक तो नही है—?"

"वही तो! वही तो! एक दम स्वाभाविक है। इसी लिए तो मैं कह रहा हूँ, पशुवत्, विवेक से परे। लेकिन टामियो का कर्म—वह तो सधे हुए पशु का नही था? उसे क्या कहोगे?"

सब थोडी देर चुप रहे। फिर मेजर वर्धन ने ही कहा, "स्वाभाविक वह भी था—इस लिए पशु-कर्म उसे भी कह सकते है। लेकिन अनुशासन से उस का कोई सम्बन्ध नही था, और प्राण-रक्षा से भी नही था कि प्राण-रक्षा वाला पशुतर्क वहाँ लगाया जा सके।"

"यान्त्रिक तो उस कर्म को कह सकते है—जैसे आँख के पास कुछ आने से आँख झपती है हमारे बिना चाहे, वैसे ही यह भी अनैच्छिक—"

"हाँ—और आँख के झपकने को आप डिसिप्लिन से नही दबा सकते, है न? अगर इस तरह गोली दाग देने को आप उस लेवल पर ले जा रहे है, तब तो मुझ से भी आगे जा रहे हैं···मुझे और कुछ कहना नही है। फौजी जीवन मे आदमी विवेक छोड़ कर अनुशासन के सहारे चलता है, और युद्ध का दबाव उसे अनुशासन से भी परे ले जाता है—उस स्थिति को मैं क्या नाम दूं?"

थोडी देर चुप रह कर मेजर वर्धन उठ खड़े हुए। खड़े-खड़े बोले, "उस के लिए नाम नही है। मेरा खयाल है कि नाम जिस भाषा मे होता वह भाषा हम लोग नही जानते।"

तीनो ने कौतूहल से उन की ओर देखा! वह फिर कहने लगे, "हमारी भाषा—यह विवेक भाषा—बस्ती-गाँव की भाषा है। पशु की भाषा उस का अर्थहीन चीखना-चिल्लाना है—उस मे अर्थ नही है पर अभिप्राय हो सकता है। उस अभिप्राय को समझने के लिए हमे दो-चार-छह-आठ या चलो बीस हज़ार बरस की संस्कृति को भूलना यथेष्ट है। मगर जिस भाषा मे जगल मे पेड़ पेड से बोलता है, पत्ती-पत्ती मर्मर कर उठती है—उस भाषा को क्या हम जानते हैं? जान सकते हैं? उसे समझने के लिए हज़ारो बरस की सांस्कृतिक परम्परा को नहीं, लाखो-करोड़ो बरस की जैविक

परम्परा को भी भूलना जरूरी है। आदम-हौवा के युग मे नही, कच्छ, मछली और सूअर के अवतारो के युग मे जाना जरूरी है—सूअर के दांत पर जो धरती टँगी हुई थी—बल्कि उस मे भी नही, वह सूअर जिस कीच मे खड़ा था उसमे।"

मेजर वर्धन का स्वर आविष्ट था, उस की गरमी तीनो साथियो को छू रही थी। मगर अँगीठी की आग ठण्डी पड गयी थी, मेजर का चेहरा अँधेरे मे था, और तीनो एक हलकी-सी सिहरन से कांप गये।

गैंग्रीन

दोपहर मे उस सूने आँगन मे पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उस के वातावरण मे कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना कुहासा फैल रहा था···

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देख कर, पहचान कर उस की मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, "आ जाओ।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मै भी उस के पीछे हो लिया।

भीतर पहुँच कर मैने पूछा, "वे यहाँ नही है ?"

"अभी आये नही, दफ़्तर मे हैं। थोडी देर मे आ जायेगे। कोई डेढ-दो बजे आया करते है।"

"कब के गये हुए है ?"

"सवेरे उठते ही चले जाते है···"

मैं 'हूँ' कह कर पूछने को हुआ, 'और तुम इतनी देर क्या करती हो ?' पर फिर सोचा—आते ही एकाएक इतने प्रश्न ठीक नही है। मै कमरे के चारो ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लायी, और मुझे हवा करने लगी। मैने आपत्ति करते हुए कहा, "नही, मुझे नही चाहिए।" पर वह नही मानी, बोली, "वाह ! चाहिए कैसे नही ? इतनी धूप में तो आये हो। यहाँ तो···"

मैने कहा, "अच्छा, लाओ मुझे दे दो।"

वह शायद 'ना' करने वाली थी, पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज सुन कर उसने चुपचाप पखा मुझे दे दिया और घुटनो पर हाथ टेक कर एक थकी हुई 'हुँह' कर के उठी और भीतर चली गयी।

मैं उस के जाते हुए, दुवले शरीर को देख कर सोचता रहा—यह क्या है···यह कैसी छाया-सी इस घर पर छायी हुई है···

मालती मेरी दूर के रिश्ते की वहिन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्वन्ध सख्य का ही रहा है। हम वचपन से इकट्ठे खेले है, इकट्ठे लडे और पिटे हैं, और हमारी पढाई भी वहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी, और हमारे व्यवहार मे सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या वड़े-छोटेपन के वन्धनों मे नही घिरा···

मैं आज कोई चार वर्ष वाद उसे देखने आया हूँ। जव मैंने उसे इस से पूर्व देखा था, तव वह लड़की ही थी, अव वह विवाहिता है, एक वच्चे की माँ भी है। इस से कोई परिवर्तन उस मे आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नही था, किन्तु अव उस की पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छायी हुई है···और विशेषतया मालती पर ··

मालती वच्चे को लेकर लौट आयी और फिर मुझ से कुछ दूर नीचे विछी हुई दरी पर वैठ गयी, मैंने अपनी कुरसी घुमा कर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा, "इसका नाम क्या है?"

मालती ने वच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नही किया, वैसे टिटी कहते है।"

मैंने उसे वुलाया, "टिटी, टिटी, आ जा," पर वह अपनी वड़ी-वड़ी आँखो से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा हो कर कहने लगा "उहुँ-उहुँ-उहूँ-ऊँ ·"

मालती ने फिर उसकी ओर एक नजर देखा, और फिर वाहर आँगन की ओर देखने लगी ··

काफी देर मौन रहा। थोडी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिस मे मैं प्रतीक्षा मे था कि मालती कुछ पूछे, किन्तु उसके वाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई वात ही नही की···यह भी नही पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ चुप वैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष मे ही वह वीते दिन भूल गयी? या अव मुझे दूर—इस विशेष अन्तर पर—रखना

चाहती है ? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नही हो सकती···पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नही होना चाहिए···

मैंने कुछ खिन्न-सा हो कर, दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आने से विशेप प्रसन्नता नही हुई—"

उसने एकाएक चौक कर कहा, "हूँ ?"

यह 'हूँ' प्रश्न-सूचक था, किन्तु इसलिए नही कि मालती ने मेरी बात सुनी नही थी; केवल विस्मय के कारण। इसलिए मैंने अपनी बात दुहरायी नहीं, चुप बैठ रहा। मालती कुछ बोली ही नही, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर ली। फिर भी मैंने देखा, उन आँखों मे कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालती के भीतर कही कुछ चेप्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायु-मण्डल को पुन. जगा कर गतिमान् करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा मे सफल न हो रहा हो वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग मे न लाये हुए अंग को व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नही है, चिरविस्मृति मे मानो मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नही सकता···मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले मे किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार कर फेकना चाहे, पर उतार न पाये··

तभी किसी ने किवाड खटखटाये। मैने मालती की ओर देखा, पर वह हिली नही। जब किवाड दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशु को अलग कर के उठी और किवाड़ खोलने गयी।

वे, यानी मालती के पति आये। मैंने उन्हे पहली बार देखा था, यद्यपि फ़ोटो से उन्हे पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन मे चली गयी, और हम दोनों भीतर बैठ कर बात-चीत करने लगे, उन की नौकरी के बारे मे, उन के जीवन के बारे मे, उस स्थान के बारे मे, और ऐसे अन्य विषयो के बारे मे जो पहले परिचय पर उठा करते है, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बन कर···

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वह एक पहाड़ी गाँव मे सरकारी

डिस्पेन्सरी के डॉक्टर है, उसी हैसियत से इन क्वार्टरो मे रहते है। प्रात:-काल सात वजे डिस्पेन्सरी चले जाते है और डेढ या दो वजे लौटते है, उस के वाद दोपहर-भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घण्टे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते है, डिस्पेन्सरी के साथ के छोटे-से अस्पताल मे पडे हुए रोगियो को देखने और अन्य जरूरी हिदायते करने· उन का जीवन भी विलकुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है, नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायते, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ। वह स्वयं उकताये हुए हैं, और इस लिए और साथ ही इस भयकर गरमी के कारण वह अपने फुरसत के समय मे भी सुस्त ही रहते है···

मालती हम दोनो के लिए खाना ले आयी। मैंने पूछा, "तुम नही खाओगी? या खा चुकी?"

महेश्वर बोले, कुछ हँस कर, "वह पीछे खाया करती है···"

पति ढाई वजे खाना खाने आते है, इसलिए पत्नी तीन वजे तक भूखी वैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देख कर वोले, "आप को तो खाने का मजा क्या ही आयेगा! ऐसे वेवक्त खा रहे है!"

मैंने उत्तर दिया, "वाह! देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है, भूख वढी हुई होती है, पर शायद मालती वहिन को कष्ट होगा।"

मालती टोक कर बोली, "उँहु, मेरे लिए तो यह नयी वात नही है·· रोज ही ऐसा होता है···"

मालती वच्चे को गोद मे लिये हुए थी। वच्चा रो रहा था, पर उस की ओर कोई भी ध्यान नही दे रहा था।

मैंने कहा, "यह रोता क्यो है?"

मालती वोली, "हो ही गया है चिडचिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर वच्चे को डाँट कर कहा, "चुप कर!" जिस से वह और भी रोने लगा। मालती ने उसे भूमि पर वैठा दिया। और वोली, "अच्छा ले, रो ले!" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गयी!

जव हमने भोजन समाप्त किया तव तीन वजने वाले थे। महेश्वर ने वताया कि उन्हे आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक-दो चिन्ताजनक

केस आये हुए हैं, जिन का ऑपरेशन करना पड़ेगा···दो की शायद टाँग काटनी पड़े, गैंग्रीन हो गया है···थोडी ही देर मे वह चले गये। मालती किवाड़ वन्द कर आयी और मेरे पास वैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है" किन्तु चली गयी। मैं टिटी को हाथ में ले कर झुलाने लगा, जिस से वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर···शायद अस्पताल मे ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका, मैंने सुना, मालती वही आँगन मे वैठी अपने-आप ही एक लम्बी-सी थकी हुई साँस के साथ कह रही है, 'तीन वज गये···' मानो वड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो···

थोड़ी ही देर मे मालती फिर आ गयी, मैंने पूछा, "तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था? सब-कुछ तो···"

"वहुत था।"

"हाँ, वहुत था, भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नही, यों ही रौब तो न जमाओ कि वहुत था।" मैंने हँसकर कहा।

मालती मानो किसी और विषय की वात कहती हुई वोली, "यहाँ सब्ज़ी-वब्ज़ी तो कुछ होती ही नही, कोई आता-जाता है तो नीचे से मँगा लेते है, मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाये थे वही अभी वरती जा रही है···"

मैंने पूछा, "नौकर कोई नही है?"

"कोई ठीक मिला नही, शायद दो-एक दिन मे हो जाये।"

"वरतन भी तो तुम्ही माँजती हो?"

"और कौन?" कहकर मालती क्षण-भर आँगन मे जाकर लौट आयी।

मैंने पूछा, "कहाँ गयी थीं?"

"आज पानी ही नही है, वरतन कैसे मँजेंगे?"

"क्यो, पानी को क्या हुआ?"

"रोज़ ही होता है···कभी वक़्त पर तो आता नही, आज शाम को सात

बजे आयेगा, तब बरतन मँजेंगे।"

"चलो, तुम्हे सात बजे तक तो छुट्टी हुई," कहते हुए मैं मन-ही-मन सोचने लगा, 'अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या ख़ाक हुई?'

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नही था; पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोडी देर फिर मौन रहा, मैंने जेब से अपनी नोट-बुक निकाली और पिछले दिनो के लिखे हुए नोट देखने लगा, तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नही, और बोली, "यहाँ आये कैसे?"

मैंने कहा ही तो, "अच्छा, अब याद आया? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने?"

"तो दो-एक दिन रहोगे न?"

"नही, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।"

मालती कुछ नही बोली, कुछ खिन्न-सी हो गयी। मै फिर नोटबुक की तरफ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मै आया तो हूँ मालती से मिलने किन्तु यहाँ वह बात करने को बैठी है और मै पढ रहा हूँ! पर बात भी क्या की जाये? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रह कर भी मानो मुझे भी वश कर रही है, मै भी वैसा ही नीरस-निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती···

मैंने पूछा, "तुम कुछ पढती-लिखती नही?" मैं चारो ओर देखने लगा कि कही किताबे दीख पडे।

"यहाँ!" कहकर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी, 'यहाँ पढने को है क्या?'

मैंने कहा, "अच्छा, मै वापस जा कर जरूर कुछ पुस्तके भेजूँगा···" और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया···

थोड़ी देर बाद मालती ने पूछा, "आये कैसे हो, लारी मे?"

"पैदल।"

"इतनी दूर ? बड़ी हिम्मत की !"

"आख़िर तुम से मिलने आया हूँ।"

"ऐसे ही आये हो?"

"नही, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर। मैने सोचा, विस्तरा ले ही चलूँ।"

"अच्छा किया, यहाँ तो वस·· " कहकर मालती चुप रह गयी, फिर वोली, "तव तुम थके होगे, लेट जाओ।"

"नही, विलकुल नही थका।"

"रहने भी दो, थके नही, भले थके है !"

"और तुम क्या करोगी ?"

"मै वरतन मॉज रखती हूँ, पानी आयेगा तो धुल जायेगे।"

मैने कहा, "वाह !" क्योकि और कोई वात मुझे सूझी नही···

थोडी देर मे मालती उठी और चली गयी, टिटी को साथ लेकर। तव मै भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा· ·मेरे विचारो के साथ ऑगन से आती हुई वरतनो के घिसने की खन-खन ध्वनि मिल कर एक विचित्र एक-स्वर उत्पन्न करने लगी, जिस के कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मै ऊँघने लगा···

एकाएक वह एकस्वर टूट गया—मौन हो गया। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मै उस मौन मे सुनने लगा· ·

चार खड़क रहे थे और इसी का पहला घण्टा सुन कर मालती रुक गयी थी···

वही तीन वजे वाली वात मैने फिर देखी, अव की वार और उग्र रूप मे। मैने सुना, मालती एक विलकुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस, यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्र के-से स्वर मे कह रही है, 'चार वज गये !' मानो इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनने मे ही उस का मशीन-तुल्य जीवन वीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यन्त्रवत् फ़ासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त स्वर मे कहता है (किस से !) कि मैंने अपने अमित शून्यपथ का इतना अंश तय कर लिया·· न जाने कब, कैसे मुझे नीद आ गयी।

तब छह कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उन के साथ ही विस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने को ही था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों से मुँह पोछते-पोछते महेश्वर से पूछा, "आपने बड़ी देर की!"

उन्होंने किंचित् ग्लानि-भरे स्वर मे कहा, "हाँ, आज वह गैंग्रीन का ऑपरेशन करना ही पड़ा, एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स मे बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैने पूछा, "गैंग्रीन कैसे हो गया?"

"एक काँटा चुभा था, उसी से हो गया। बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के..."

मैंने पूछा, "यहाँ आप को केस अच्छे मिल जाते हैं? आय के लिहाज से नहीं, डॉक्टरी के अभ्यास के लिए?"

बोले, "हाँ, मिल ही जाते हैं, यही गैंग्रीन, हर दूसरे-चौथे दिन एक आ जाता है, नीचे बड़े अस्पतालो मे भी..."

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गयी, बोली, "हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है? काँटा चुभा था, इस पर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डॉक्टरी है? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास!"

महेश्वर हँसे, बोले, "न काटे तो उस की जान गँवायें?"

"हाँ, पहले तो दुनिया मे काँटे ही नही होते होंगे? आज तक तो सुना नही था कि काँटो के चुभने से मर जाते हो..."

महेश्वर ने उत्तर नही दिया, मुसकरा दिये। मालती मेरी ओर देख कर बोली, "ऐसे ही होते है डॉक्टर, सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज ही ऐसी बाते सुनती हूँ। अब कोई मर-मुर जाये तो खयाल ही नही होता। पहले तो रात-रात-भर नींद नही आया करती थी।"

तभी आँगन मे खुले हुए नल ने कहा—टिप्, टिप्, टिप्! टिप्-टिप्-टिप्...

मालती ने कहा, 'पानी !' और उठ कर चली गयी। खनखनाहट से हमने जाना, बरतन धोये जाने लगे है···

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था, अब एकाएक उन्हे छोड़ कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा, "उधर मत जा !" और उसे गोद मे उठा लिया, वह मचलने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा।

महेश्वर बोले—"अब रो-रो कर सो जायेगा, तभी घर मे चैन होगा।"

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते हैं ? गरमी तो बहुत होती है !"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर यह लोहे के पलंग उठा कर बाहर कौन ले जाये ? अब के नीचे जायेंगे तो चारपाइयाँ ले आयेंगे।" फिर कुछ रुक कर बोले, "आज तो बाहर ही सोयेंगे। आप के आने का इतना लाभ ही होगा।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया, और पलंग बाहर खीचने लगे। मैंने कहा, "मै मदद करता हूँ," और दूसरी ओर से पलंग उठा कर निकलवा दिये।

अब हम तीनो—महेश्वर, टिटी और मै—दो पलंगों पर बैठ गये और वार्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पा कर उस कमी को छुपाने के लिए टिटी से खेलने लगे। बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था, किन्तु बीच-बीच मे जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद कर के रो उठता था, और फिर एकदम चुप हो जाता था···और कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उस के बारे मे कुछ बात कह देते थे··

मालती बरतन धो चुकी थी। जब वह उन्हे ले कर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा, "थोड़े से आम लाया हूँ, वह भी धो लेना।"

"कहाँ हैं ?"

"अँगीठी पर रखे हैं, काग़ज मे लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जा कर आम उठाये और अपने आँचल मे डाल लिये। जिस काग़ज मे वे लिपटे हुए थे वह किसी पुराने अख़बार का

टुकडा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश मे उसी को पढती—जा रही थी वह नल के पास जा कर खडी उसे पढती रही, जब दोनो ओर पढ चुकी, तब एक लम्बी साँस ले कर उसे फेक कर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया—बहुत दिनो की बात थी—जब हम अभी स्कूल मे भरती हुए ही थे। जब हमारा सब से बड़ा सुख, सब से बड़ी विजय थी हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी से क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूरी पर आम के बगीचे मे पेडो पर चढ कर कच्ची आमियाँ तोड-तोड खाना। मुझे याद आया कभी जब मै भाग आता और मालती नही आ पाती थी तब मै भी खिन्न-मन लौट आया करता था।

मालती कुछ नही पढती थी, उस के माता-पिता तग थे, एक दिन उस के पिता ने उसे एक पुस्तक ला कर दी और कहा कि इस के बीस पेज रोज पढा करो, हफ्ते-भर बाद मै देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नही तो मार-मार कर चमडी उधेड दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढी ? वह नित्य ही उस के दस पन्ने, बीस पेज, फाड कर फेक देती, अपने खेल मे किसी भाँति फ़र्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उस के पिता ने पूछा, "किताब समाप्त कर ली ?" तो उत्तर दिया—"हाँ, कर ली !" पिता ने कहा, "लाओ, मै प्रश्न पूछूँगा", तो चुप खडी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर मे बोली, "किताब मैंने फाड कर फेक दी है, मैं नही पढूँगी।"

उस के बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है ·इस समय मै यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चचल मालती आज कितनी सीधी हो गयी है, कितनी शान्त, और एक अख़बार के टुकड़े को तरसती है ·· यह क्या, यह· ·

तभी महेश्वर ने पूछा, "रोटी कब बनेगी ?"

"बस, अभी बनाती हूँ।"

पर अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी, वह मालती की ओर हाथ बढा कर रोने लगा और नही माना, मालती उसे भी गोद मे लेकर चली गयी,

रसोई मे बैठ कर एक हाथ से उसे थपकने और दूसरे से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी···

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक-दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे और विस्तर पर लेट गये थे और टिटी सो गया था। मालती पलंग के एक ओर मोमजामा विछा कर उसे उस पर लिटा गयी थी। वह सो गया था, पर नीद मे कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठ कर बैठ भी गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा, "आप तो थके होंगे, सो जाइए।"

वह वोले, "थके तो आप अधिक होंगे···अठारह मील पैदल चल कर आये हैं।" किन्तु उन के स्वर ने मानो जोड दिया—'थका तो मै भी हूं।'

मैं चुप रहा, थोड़ी देर मे किसी अपर संज्ञा ने मुझे वताया, वह ऊँघ रहे हैं।

तव लगभग साढे दस वजे थे, मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोडी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में—यद्यपि वहुत गहरे विचार मे नही—लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी, फिर मैं इधर-उधर खिसक कर, पर आराम से हो कर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी, आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा—उस सरकारी क्वार्टर की दिन मे अत्यन्त शुष्क और नीरस लगने वाली स्लेट की छत भी चाँदनी में चमक रही है, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धता से छलक रही है, मानो चन्द्रिका उस पर से वहती हुई आ रही हो, झर रही हो

मैंने देखा, पवन मे चीड़ के वृक्ष—गरमी से सूख कर मटमैले हुई चीड़ के वृक्ष—धीरे-धीरे गा रहे हों···कोई राग जो कोमल है किन्तु करुण नही, अशान्तिमय है किन्तु उद्वेगमय नही···

मैंने देखा, प्रकाश से धुंधले नीले आकाश के पट पर जो चमगादड़ नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे है, वे भी सुन्दर दीखते है···

मैंने देखा—दिन-भर की तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ो में से भाप से उठ कर वातावरण में खोये जा रहे हैं, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड वृक्षरूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढा रखी हैं· ·

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने ! महेश्वर ऊँघ रहे थे और मालती उस समय भोजन से निवृत्त हो कर दही जमाने के लिए मिट्टी का बरतन गरम पानी से धो रही थी, और कह रही थी···'अभी छुट्टी हुई जाती है !' और मेरे कहने पर ही कि "ग्यारह बजने वाले हैं," धीरे से सिर हिला कर जता रही थी कि रोज ही इतने बज जाते हैं। मालती ने वह सब कुछ नही देखा, मालती का जीवन अपनी रोज की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक ससार के लिए, रुकने को तैयार नही था···

चाँदनी मे शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा और तभी वह एकाएका मानो किसी शैशवोचित वामता मे उठा और खिसक कर पलग से नीचे गिर पडा और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। महेश्वर ने चौंक कर कहा—"क्या हुआ ?" मैं झपटकर उसे उठाने दौडा, मालती रसोई से बाहर निकल आयी। मैंने उस 'खट्' शब्द को याद कर के धीरे से करुणा-भरे स्वर मे कहा, "चोट बहुत लग गयी बेचारे के !"

यह सब मानो एक ही क्षण मे, एक ही क्रिया की गति मे हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझ से लेने के लिए हाथ बढाते हुए कहा, "इस के चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पडता है।"

एक छोटे क्षण-भर के लिए मैं स्तब्ध हो गया, फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर मे कहा—मेरे मन ने भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नही निकला—'माँ, युवती माँ, यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो—और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है !'

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नही है, मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब मे कोई गहरी भयंकर छाया घर कर गयी

है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गयी है, उनका इतना अभिन्न अंग हो गयी है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं, मैंने उस छाया को देख भी लिया…

इतनी देर में, पूर्ववत् शान्ति हो गयी थी। महेश्वर फिर लेट कर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपट कर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उस के छोटे-से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी, किन्तु क्या चन्द्रिका को या तारों को?

तभी ग्यारह का घंटा बजा, मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठा कर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घंटा-ध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जाने वाली आवाज में उसने कहा, 'ग्यारह बज गये…'

नीली हँसी

देवकान्त ने एक वार फिर नीचे बहते हुए और ऊपर से बरसते हुए पानी की मिलन-रेखा पहचानने की कोशिश की। पर नीचे का मटमैला धुँधला आलोक, कब कहाँ ऊपर से भूरे धुँधले आलोक मे परिवर्तित हो जाता था, यह पहचान पाना असम्भव था। पानी-पानी-पानी' केवल पैरो के बिलकुल निकट, जहाँ ब्रह्मपुत्र के बौराये हुए पानी ने अभी थोडी देर पहले किनारे के एक बडे टुकडे का निवाला बना लिया था, वह देख सकता था कि पानी की बौराहट मानो अन्तर्मुख हो कर अपने ही को निगले जा रही थी—पानी के चक्रावर्त घूमते हुए अपने को ही नीचे पाताल की ओर खीचते हुए बहते चले जाते थे' आवर्त्त के छोर को जो कुछ भी छूता—जलकुम्भी के बहते हुए पौधे, गली हुई टहनियाँ, पुराने छप्पर के काले पडे हुए बाँस, बाढ की नदी मे बह कर आने वाला नानाविध नामहीन कचरा —सब उसे छूते ही मानो आविष्ट हो जाता और बगूलो के बीचो-बीच जा कर पाताल की ओर कूद पडता 'दृष्टि भी तो उसे छूते ही मानो नीचे की ओर को चूस ली जाती है, तो और चीजो का क्या कहना ''

थोडी देर स्थिर दृष्टि से बगूले को देखते रहने पर देवकान्त के शरीर मे एक सिहरन-सी दौड गयी—उस की देह कटकित हो आयी। उस ने फिर बलात् आँखे उठा कर उस ओर देखा जहाँ क्षितिज होना चाहिए। ठाकुर की एक पक्ति उस की स्मृति मे उभर कर डूब गयी ' "रात्रि एशे जेथाय मेशे दिनेर परावारे"—दिन और रात्रि तो इस निर्विशेष प्रकाश मे पहचाने नही जाते, पर पारावार मे मिल जाने का प्रत्यक्ष दृश्य इस से बढ़ कर क्या हो सकता है '

लेकिन मिल जाने की बात ऐसे सोचने से काम नही चलेगा। नदी और सागर, दिन और रात, आकाश और धरातल, पानी और किनारा—ये उसे

अलग-अलग पहचानने होंगे—इन्हें पृथक् कर के ही वह उस काम में सफलता की आशा कर सकता है जिसे उसे उठाना ही है, असफलता का जोखिम उठा कर भी हाथ लगाना ही है—यद्यपि असफल उसे नही होना है—असफलता की गुंजाइश छोड सकने लायक गुंजाइश उस की सहनशक्ति मे नही है···

वह वह—क्या वह क्षितिज-रेखा है—जल-रेखा है? क्या यह उस का भ्रम है कि ठीक वहाँ पर एक पतली-सी श्यामल रेखा भी वह देख सका है—द्वीप की तरु-पंक्ति की रेखा? नही, भ्रम की भी गुंजाइश नही है, आँखों को, हाथो को, जी को, किसी को भी चूकने की गुंजाइश नही है···

देवकान्त ने एक लम्बी साँस ले कर नाव के एक सिरे से दूसरे तक नजर डाली, फिर उस की रस्सी हाथ मे लिये-लिये उस के किनारे पर चढ़े हिस्से को ठेलते हुए कूद कर उस पर सवार हो लिया। नाव थोड़ा-सा काँपी-डगमगायी। फिर धार मे पड़ते ही तीर की तरह एक ओर बढ़ चली···देवकान्त ने एक बार फिर पार के क्षितिज की ओर देखा, और स्थिर भाव से डाँड चलाने लगा। तनिक-सी देर मे ही वह भी किनारे से दूर हो कर इतना छोटा-सा दीखने लगा मानो वह भी जलकुम्भी का बहता हुआ एक पौधा हो—वह नही, समूची नाव एक छोटा-सा उन्मूलित पौधा हो, और वह उस का ऊब-डूब करता हुआ-सा नीला फूल, कोमल क्षणजीवी फूल, किन्तु जो जब तक है सुन्दर है। मानो एक स्वतःसम्पूर्ण दुनिया है—

कही से हवा उठी। उस से पानी के ऊपर की धुन्ध मिटने लगी, वर्षा भी थम गयी, पानी स्पष्ट दीखने लगा—स्पष्ट किन्तु सम नही, बगूलो का स्थान उत्ताल तरंगो ने ले लिया था—पर ये छोटी-छोटी तरल पहाड़ियाँ न भी होती तो भी देवकान्त और उस की नाव कब के ओझल हो चुके थे···

देश और काल का फैलाव वही सब से अधिक होता है जहाँ उन का महत्त्व सब से कम होता है—जब-जब जीवन मे तनाव आता है और प्राणशक्ति एक केन्द्र या बिन्दु मे संचित होने लगती है, तब-तब देश-काल भी उसी अनुपात मे सिमट आते है···देवकान्त नाव खे रहा है, उस के सामने, आगे-पीछे, कही उस क्षण के सिवा कुछ नही है जिस मे वह है और नाव खे

रहा और मोहन की बड़ी-बड़ी काली आँखों की ओर देखे जा रहा है—मोहन जो एक हिरन का छौना है जिसे नीलिमा ने उसे दिया था—किन्तु फिर भी उस क्षण में ही कई देश-काल संचित हो आये हैं—वह एक साथ ही कई स्थानों, कई कालों में जी रहा है, कई घटनाओं का घटक है···

द्वीप के आर-पार पत्थरों के ढेर लगा कर पटरी बनायी गयी है, जिस पर से सड़क के पास ही नीची भूमि पर बाँस की एक बाड़ है, जिस के भीतर कदली की घनी बाड़ है। देवकान्त बाहर बैठा बाँसुरी बजा रहा है। कदली के पत्तों के बीच में से उसे कभी-कभी एक सफ़ेद आँचल की झलक मिल जाती है—नीलिमा भीतर फूल बीन रही है···वह यहीं रहती है, यहीं और लड़कियों के साथ पढ़ती है, यहीं से कभी बारह वसन्तों के कूजन से भरा हुआ स्वर नाम-कीर्त्तन करता हुआ सुनायी दे जाया करता है, यहीं···

बाढ़ आती है तो द्वीप में पानी भर जाता है, उतरती है तो जगह-जगह खाल, बील, दिग्घी, ताल बना कर छोड़ जाती है। निर्धन लोग रहने के लिए पेड़ों पर मचान बनाते हैं, सम्पन्न दो-एक व्यक्तियों ने बजरे रख छोड़े हैं, पानी उतर जाने पर किसी ताल-पोखर में पड़े रहते हैं। साधारण बाढ़ में यही जीवन-रक्षा के लिए यथेष्ट होते हैं—अधिक बाढ़ में उन का भी ठिकाना नहीं—पर ऐसी कौन-सी स्थिति है जिस में किसी प्रकार भी कोई खतरा न हो·· ऐसे ही एक बजरे की ओट में पोखर के किनारे उस का घर है। उस का पिता कुशल महावत है और हाथी को साधने में उस की बराबरी सारे असम में विरला ही कर सकता है। और देवकान्त स्वयं एक मटकी दही को ले कर बजरे के नीचे से गुजरता है—वह नाव में बैठा भी अपने को मटकी लिये जाता देख रहा है···

दो वर्ष बराबर बाढ़ आयी थी, द्वीप प्रायः नामशेष हो गया था। और अब वहाँ न जलाने को तेल था, न खाने को नमक—दोनों ही 'नालानी' आते थे। देवकान्त कदली के तने जलाकर उन की राख समेट रहा है—इसी का खार उन्हें दुर्दिन में नमक का काम देता है—खार वह हँड़िया में भर लेगा—न जाने कितने दिन चलेगी वह। भोजन का धूमिल रंग मानो उस की दृष्टि के आगे से दौड़ गया, और उस के कटु स्वाद से उस का मुँह कड़वा हो आया—वह थूक कर मुँह साफ़ कर लेता पर उसे ध्यान आया

कि कदली की अवज्ञा अनुचित है—जिस की जड़ें, हाड, छाल, फूल, फल सभी उपयोगी है और उन के भोजन-छाजन का सहारा है—

"देवू, यह लो !"

देवकान्त चौंक कर देखता है। नीलिमा के वस्त्र उजले है, नेत्र काले, केश भीगे, और वह डोर से झूलती एक छोटी-सी मुँह-बँधी हँडिया उस की ओर बढ़ा रही है।

"यह क्या है, नीली ?"

"नमक। हमारे पास एक हाँडी और है। विहू तक चल जायेगा।"

"लेकिन खार तो अच्छी होती है—हमने इतनी बना ली—"

"लो—बहस मत करो !" आज्ञापना।

"अच्छा, लाओ।" कुछ विनोद का भाव; "नीली, तो आज से हम तुम्हारा नमक खायेंगे—"

"धत् !"

ढोलकों का स्वर। खोल, मादल, झाँझ, वेणु, घण्टी। बीच-बीच मे ऊँचा उठता समवेत गायन का स्वर।

देवकान्त दौड़ रहा है। विषुवोत्सव का आमोद-प्रमोद, और वह अभी पहुँचा नही—पिता ने उसे काम मे रोक लिया था ··

लडकियो की खिलखिलाहट। पुआल की और पुआल के धुएँ की गन्ध, बूढों के खाँसने मे भी जैसे प्रसन्नता की मीड। गुड़ और खीलो का कसैला-मीठा स्वाद। एकाएक पुआल की आग की एक भभकती लपट, उस के लाल प्रकाश मे नीलिमा का दमकता चेहरा—उन आँखो मे देवकान्त के शायद वैसे ही दमकते चेहरे की सहसा उभरती पहचान—क्या पुआल की आग मे उस की शतांश भी दीप्ति है जो क्षण-भर नीलिमा की आँखो मे दमक उठती है ?

झाँझ, मँजीरा, वेणु, खोल, मादल···

कुछ नही बचा है, केवल द्वीप के आर-पार की वह ऊँची पटरी और पेडो के ऊपरी हिस्से—उन पर मचान, पटरी के निकट तीन-चार बजरे···

और पटरी पर अनगिनती ढोर-डाँगर, कुछ कुत्ते, कहीं-कहीं दुबकते लोमड़ी-सियार, जगह-जगह अधमरे रेंगते साँप, तीन-चार हाथी···और कभी-कभी दूर के एक टीले की हाथी-डूब घास में-से आती हुई बाघ की चिग्घाड़। और कुछ नहीं बचा है, लेकिन यही तो सब-कुछ है, इस से कम पर भी बार-बार उनका जीवन फिर भरा-पूरा हुआ है, बाढ़ उतरेगी तो फिर मादल गूँजेंगे और मृदंग गमक लेंगे और ऋतुस्नाता की भाँति कान्तिमान् द्वीप-भूमि मेमनों की मिमयाती हँसी में मुखरित हो उठेगी···

अब भी बजरे की ओट में देवकान्त है। पटरी के पार मचान के पास नीलिमा आती है—उस की गोद में एक मृग का बच्चा है। कितना सुन्दर! देवकान्त ललक कर कहता है, "यह कहाँ पाया?"

पर नीलिमा के स्वर में अप्रत्याशित गम्भीरता है। "इसे रखोगे?"

"क्यों—क्या बात है?"

"मचान में नहीं रह सकता। तुम अपने साथ पटरी पर रखो, या बजरे पर—वहाँ बच जायेगा।"

"पर पाया कहाँ?"

"पिता लाये थे। भटका हुआ मिला था। मैंने मोहन नाम रखा है।"

"सचमुच मोहन है। इतना प्यारा है! मैं ज़रूर पाल लूँगा—बचा लूँगा।" फिर शरारत में, "पर फिर मैं लौटाऊँगा नहीं—मेरा हो जायेगा!"

"मैंने कुछ भी जो तुम्हें दिया है कभी वापस माँगा है?" स्वर शान्त है, लेकिन उस में दबी हुई एक कँपकँपी है जिस से देवकान्त चौंक-सा जाता है, "आगे भी जो दूँगी, वापस नहीं माँगूँगी।"

"नीलिमा—नीली?"

"तुम बचा कर रख सको सही।"

नहीं, भूल नहीं हो सकती, इस बात का मोहन से कोई सम्बन्ध नहीं है। देवकान्त अवाक् उसे देखता है, उस के भीतर कहीं कुछ गा उठता है—ब्रह्मपुत्र के बहाव की तरह मन्द्र-गम्भीर, मोहन की आँखों की तरह गहरा, गहरा, गहरा··

"नीली, यह देखो! देखो, क्या लाया।"

केवड़े का फूल है, गमछे में लिपटा हुआ। देवकान्त खोल कर उसे दे देता है।"

"गन्ध तो कभी-कभी आती थी। कहाँ पर था? पटरी पर तो मैंने सब ओर देखा था।"

"हाँ, देखा?" देवकान्त के स्वर मे विजय का गर्व है। "पटरी पर नही था—ऐसी चीजे जरा मेहनत से मिलती हैं। उस झोप के अन्दर—" कहते-कहते उस ने टीले की ओर इशारा किया।

"झोप—क्या कहा?" नीली का स्वर सहसा चीत्कार-सा बन गया; उस टीले की ओर से ही तो बाघ की दहाड़ सुनायी दी थी! "हटो, मुझे नही चाहिए तुम्हारी केतकी—"

नीली ने फूल उस के हाथ पर पटक दिया, काँटे से उस का हाथ छिल गया, पर उस से बोला ही नही गया।

"हजार बार कहा है देवू, मुझे फूल नही चाहिए, मुझे तुम्हारी—" सहसा रुक कर उस ने ओठ काट लिया, उस का चेहरा लाल हो आया, "अच्छा लाओ, दो—" कह कर उस ने फूल झपट लिया और आँचल से उसे ढकती हुई भाग गयी।

डिबरूगढ का स्कूल। देवकान्त ने पढाई पूरी कर ली है और अभी स्कूल में मास्टरी शुरू की है। इतने छोटे मास्टर से उस ने स्वयं कभी नही पढा, पर प्रगति तो इसी का नाम है कि कल जो छत्तीस बरस के बुजुर्ग करते थे, आज अठारह बरस के जवान करे···

नीली की चिट्ठी। वे लोग द्वीप छोड़ कर जाने वाले है। बाढ आ रही है, और सुना है कि इस साल सब डूब जायेगा। मोहन की उसे चिन्ता है—अगर सचमुच उतनी बाढ़ आयी तो पटरी पर जमा असख्य जानवरों मे उस की कौन चिन्ता करेगा? वह सोच रही है कि उस के लिए पटरी पर ही एक छोटी-सी झोंपडी बना जाये, पर···क्यों नही वह आ कर उसे ले जाता है? जल्दी आये तो नीली भी उसे देख लेगी—लेकिन अब बड़ा आदमी हो कर क्या वह नीली को पहचानेगा भी? नही तो मोहन को तो वह ले जा ही सकेगा—स्कूल के मास्टर साहब तो लड़कों से ढोर चरवा

लेते हैं, क्या वह मोहन की देख-भाल नही करा सकेगा ?

देवकान्त चिट्ठी पर मोहर देखता है, तारीख़ पढता है, मानो उँगलियों पर कुछ गिनने को होता है—और फिर हाथ ढीला छोड़ देता है' '

झाँझ, मँजीरा, खोल, मादल' 'पानी का घर्र-घर्र, सर-सर-सर-सर, छप्प-छप्प छाऽप-छप्प, डाँडो क खट्ट-हुट्, देवकान्त की अपनी साँसो का स्वर जो कानो के पास से सरसराते पवन के स्वर मे डूवता नही क्योकि अपनी साँस भीतर से सुनी जाती है, वाहरी कान से नही और डाँडो की विलम्बित लय पर अधीर उस के हृदय का द्रुत धक्क-धुकु, धक्क-धुकु' 'और स्वरो की इस छोटी-सी गठरी के आस-पास चारो ओर मटमैला ललछौंहाँ पानी-पानी-पानी'

वह—वह—वह क्या भूमि की रेखा है ? वह छाया-सी—क्या पेड है ?

मोहन—मोहन'' क्योकि नीली का नाम वह लेगा तो चंचल हो उठेगा, और चचल उसे नही होना है, उसे धैर्य रखना है, जितना धैर्य उसने जीवन मे कभी नहीं रखा उतना'''

धैर्य का काम अभी शेप नही हुआ है। नाव पर मोहन उसके साथ है पर अव हवा सामने की है, और तेज है। और मोहन की चिन्ता के मिटने मे जो अनेक नयी दुश्चिन्ताएँ उसे घेर रही है उन से हारना नही है, नही है ''

खट्ट-हुट्, खट्ट-हुट् सर-सर-सर-सर-छप्प-छाऽप ''उद्वेलित पानी का प्रसार, हवा के थप्पड खा कर फुफकारती हुई लहरे, धुँधला पडता हुआ पहले ही से मेघिल साँझ का आकाश ''ऊव-डूव नाव, डाँड चलानेवाला अकेला देवकान्त—तैरता हुआ उन्मूलित जलकुम्भी का पौधा—पौधा नही, फूल—फूल की एक कलगी—नीली, जैसे मोहन की आँखे नीली—

नीली'''

न, न, नीली का नाम उच्चारना नही होगा, उसे मन ही मे रहने देना होगा ऊव-डूव जलकुम्भी का पौधा—लेकिन पौधा तो डूवता नही, मीलों वहता है, दिनों वहता है'''

पंजिका मे लिखा है, इस वर्ष का नाम है, 'प्लव संवत्सर'—

ब्रह्मपुत्र'' ब्रह्मा का पुत्र'''और मानव ? वह भी ब्रह्मा की सन्तान''' तो क्या यह भ्रातृ-कलह है ? खट्ट-हुट्—सोचना कुछ नही है, ब्रह्मा का केवल एक पुत्र है और उस का नाम है देवकान्त, वाकी केवल तत्त्व हैं, जड तत्त्व जिन मे आदमी नष्ट हो कर मिलता है—नीचे एक तत्त्व है पानी—नष्ट हो कर क्या इन मे मिलना होगा ? क्यो मिलना होगा—नष्ट ही क्यो होना होगा ?

लहर आती है और जलकुम्भी के पौधे को उछाल कर फेंक देती है। वह डूवता नही, पर जायेगा कहाँ'''दिनों और मीलो तक भी वह कर ''

न—यह लहर नाव से वडी है, यह अँधेरा साँझ से गहरा है—

भूरा और शीतल, कठोर, डगमग, विना पेंदी का अँधेरा, बाँह के नीचे स्निग्ध, मुट्ठी मे गीला और कठैठा—

दिन और रात दोनो पारावार है, सारे क्षितिज आ कर मिल जाते हैं, जलकुम्भी डूवती नही है, पर जलकुम्भी पानी का पौधा है, लकड़ी की नाव नही'''

फिर देश-काल का संकुल : कौन-सा देश, कौन-सा काल, न जाने, पर घोर संकुल'''

द्वीप पर केवल पटरी थी और पेड़ों के शिखर थे। और पशु थे।

मोहन था। अलग एक छोटे-से वाड़े में।

और कौन कहाँ था। पर काल का संकुल था, वह जान नही सका। कही वजरा भी रहा होगा—लोग भी रहे होगे'''

नीली—नीलिमा ?

वहाँ कोई नही था। वे वाढ के पहले चले गये होगे। पर कव, कैसे ? कहाँ ?

नाव मे—तो नाव वाढ मे कहाँ गयी होगी ?

नीलिमा—नीली—सागर-तल नीला होता है—पर नदी-तल तो उसने छुआ है, वहाँ तो नीलिमा नही, कीचड होता है या रेती, नीलिमा तो—

कहाँ है नीलिमा ?

नीलिमा···नीलिमा···नही, मोहन—मोहन उस की बॉह के नीचे है, मोहन को वह बचा लेगा। वही नही बचेगा तो ? तो भी वह मोहन को बचा लेगा, उस की दूसरी मुट्ठी मे कठैठा कुछ है—क्या है ? डाँड तो उस के हाथ से छूट गयी थी—

कुछ भी हो, कुछ है। कठैठा है। वह जरूर ऊपर आयेगा—वह छोड़ेगा नही—तुम बचा कर रख सको सही—आगे भी जो दूँगी वापस नही मॉगूँगी—मैंने कुछ भी जो तुम्हे दिया है कभी वापस मॉगा है ? न मॉगा सही, मैं दूँगा, मैं दूंगा, नीली ! क्या दोगे, प्राण ही तो न ? हा—हा—तभी तो तुम कुछ नही दे सकोगे—कुछ नही सँभाल सकोगे ·

नही—नही—नही· मोहन अब भी उस की बाँह के नीचे है, दूसरे हाथ की मुट्ठी मे अब भी कठैठा कुछ है—वह उभरेगा, उभरेगा—यह पानी के नीचे ऐसी जलती प्यास कैसी—यह हवा की प्यास है, वह—उस की मुट्ठी मे कठैठा कुछ· ·

कितनी गहरी है नीलिमा आकाश की—उस आकाश की जो ऑखों के भीतर समा जाता है, कितनी स्निग्ध है तरलता जल की—उस जल की जिस मे चेतना डूब जाती है, कितना सुन्दर है जलकुम्भी का खोया हुआ फूल, वह फूल जो जीवन का प्रतीक है, कितना रसमय, स्फूर्तिमय है विस्तार अवचेतन का ·

वह नही जानता, किन्तु वह जानता है कि वह बार-बार किसी चीज से रगड खा जाता है—कुछ जो चिकना है पर छील भी देता है, जिस से दर्द नही होता पर ठड की सुइयाँ चुभती है। उसे स्पर्श-ज्ञान नही है पर वह छूता है एक लोमिल त्वचा को जो मोहन है, और एक कठैठे कुछ को जो न जाने क्या है। उस के मुँह मे पानी का एक बुलबुला है, पर न जाने कब कैसे उस के फेफडो मे क्या चला जाता है जो गीला नही है

ये स्वर है। पानी के नही, नाव के नही, हवा के नही। स्वर है—

मानव-स्वर है। झिपते-उभरते, मानो रवहीन।

"बॉह तो उठाओ···पकड़ो·· गला घोट देगा···अकड़ गयी है कपडे मे लपेटो·· मलो· ·पानी· ऊँचा वह · हिरन पागल· ·"

हिरन···हिरन···

क्या हिरन? उफ् कितना कठिन प्रयास है यह—क्या उसे बटोरना है—

सहसा उस की आँखें खुल गयी—उसे स्वयं नही मालूम हुआ—और उसने कहा, "मोहन—हिरन—"

किसी ने कहा, "हाँ, वह है—बच जायेगा—"

कौन बच जायेगा? मोहन? वह?

वह कौन? वह देवकान्त। पर वह तो बच गया है—नही तो वह देवकान्त कैसे है? सोचता कौन है?

उसने फिर रवहीन स्वर से कहा, "मोहन ··"

उस की आँखें झिप गयी! नीलिमा ने फिर उसे घेर लिया। दूर कही सुना, "चिन्ता नही—बच जायेगा—" फिर सब-कुछ बुझ गया।

मन-ही-मन उसने कहा, "नीली, मै रख सकूँगा बचा कर" पर जैसे उस का कहा उसी ने नही सुना। नीली तो बहुत दूर थी, पता नही. थी भी कि नहीं।

पर और कुछ उसने फिर सुना बड़ी दूर से, जैसे पानी के नीचे से, ब्रह्मपुत्र के अथाह पानी के नीचे से—"पागल—बेहोशी मे हँसता है।"

हाँ, तो हँसता तो है, नीली हँसी—सम्पृक्त हँसी—वह हँसी जो नीली थी—उस की नीलिमा!

मेजर चौधरी की वापसी

किसी की टाँग टूट जाती है, तो साधारणतया उसे बधाई का पात्र नही माना जाता। लेकिन मेजर चौधरी जब छह सप्ताह अस्पताल मे काट कर बैसाखियो के सहारे लडखडाते हुए बाहर निकले, और बाहर निकल कर उन्होने मिजाजपुर्सी के लिए आये हुए अफसरो को बताया कि उन की चार सप्ताह की 'वार लीव' के साथ उन्हे छह सप्ताह की 'कम्पैश-नेट लीव'[1] भी मिली है, और उस के बाद ही शायद कुछ और छुट्टी के अनन्तर उन्हे सैनिक नौकरी से छुटकारा मिल जायेगा, तब सुनने वालो के मन मे अवश्य ही ईर्ष्या की लहर दौड गयी थी। क्योकि मोकोक्चङ् यो सब-डिविजन का केन्द्र क्यो न हो, वैसे वह नगा पार्वत्य जगलो का ही एक हिस्सा था, और जोक, दलदल, मच्छर, चूती छते, कीचड, फर्ण, पीने को उबाला जाने पर भी गँदला पानी और खाने को पानी मे भिगो कर ताजा किये गये सूखे आलू-प्याज—ये सब चीजे ऐसी नही है कि दूसरो के सुख-दु ख के प्रति सहज औदार्य की भावना को जाग्रत करे ?

मैं स्वयं मोकोक्चङ् मे नही, वहाँ से तीस मील नीचे मरियानी मे रहता था, जो कि रेल की पक्की सडक द्वारा सेवित छावनी थी। मोको-क्चङ् अपनी सामग्री और उपकरणो के लिए मरियानी पर निर्भर था इस लिए मैं जब-तब एक दिन के लिए मोकोक्चङ् जा कर वहाँ की अवस्था देख आया करता था। नाकाचारी चार-आली से[2] आगे रास्ता बहुत ही खराब है और गाडी कीच-काँदो मे फँस-फँस जाती है, किन्तु उस प्रदेश की आब नगा जाति के हँसमुख चेहरो और साहाय्य-तत्पर व्यवहार के कारण

1 समवेदना-जन्य छुट्टी।
2 चार-आली—चौरास्ता। आली असमिया में सडक को कहते हैं।

वह जोखम बुरी नही लगती।

मुझे तो मरियानी लौटना था ही, मेजर चौधरी भी मेरे साथ ही चले—मरियानी से रेल-द्वारा वह गौहाटी होते हुए कलकत्ते जायेंगे और वहाँ से अपने घर पश्चिम को···

स्टेशन-वैगन चलाते-चलाते मैंने पूछा, "मेजर साहब, घर लौटते हुए कैसा लगता है ?" और फिर इस डर से कि कही मेरा प्रश्न उन्हे कष्ट ही न दे, "आप के इस—इस ऐक्सिडेंट से अवश्य ही इस प्रत्यागमन पर एक छाया पड़ गयी है, पर फिर भी घर तो घर है—"

अस्पताल के छह हफ्ते मनुष्य के मन मे गहरा परिवर्तन कर देते है, यह अचानक तब जाना जब मेजर चौधरी ने कुछ सोचते-से उत्तर दिया, "हाँ, घर तो घर ही है। पर जो एक बार घर से जाता है, वह लौट कर भी घर लौटता ही है, इस का क्या ठिकाना ?"

मैंने तीखी दृष्टि से उन की ओर देखा। कौन-सा गोपन दु:ख उन्हे खा रहा है—'घर' की स्मृति को ले कर कौन-सा वेदना का ठूँठ इन की विचार-धारा मे अवरोध पैदा कर रहा है ? पर मैंने कुछ कहा नही, प्रतीक्षा मे रहा कि कुछ और कहेंगे।

देर तक मौन रहा, गाड़ी नाकाचारी की लीक मे उचकती-धचकती चलती रही।

थोड़ी देर बाद मेजर चौधरी फिर धीरे-धीरे कहने लगे, "देखो, प्रधान, फौज मे जो भरती होते है न जाने क्या-क्या सोच कर, किस-किस आशा से। कोई-कोई अभागा आशा से नही, निराशा से भी भरती होता है, और लौटने की कल्पना नही करता। लेकिन जो लौटने की बात सोचते है—और प्राय: सभी सोचते है—वे मेरी तरह लौटने की बात नही सोचते—"

उन का स्वर मुझे चुभ गया। मैंने सान्त्वना के स्वर मे कहा, "नही मेजर चौधरी, इतने हतधैर्य आप को नही—"

"मुझे कह लेने दो, प्रधान !"

मैं रुक गया।

"मेरी जाँघ और कूल्हे मे चोट लगी थी, अब मैं सेना के काम का न

रहा पर आजीवन लँगडा रह कर भी वैसे चलने-फिरने लगूँगा, यह तुमने अस्पताल मे सुना है। सिविल जीवन मे कई पेशे हैं जो मैं कर सकता हूँ। इसलिए घबराने की कोई बात नही। ठीक है न? पर—" मेजर चौधरी फिर रुक गये और मैंने लक्ष्य किया कि आगे की बात कहने मे उन्हे कष्ट हो रहा है, "पर चोटे ऐसी भी होती है—जिन का इलाज—नही होता···"

मै चुपचाप सुनता रहा।

"भरती होने से साल-भर पहले मेरी शादी हुई थी। तीन साल हो गये। हम लोग साथ लगभग नही रहे—वैसी सुविधाएँ नही हुई। हमारी कोई सन्तान नही है।"

फिर मौन। क्या मेरी ओर से कुछ अपेक्षित है? किन्तु किसी आन्तरिक व्यथा की बात अगर वह कहना चाहते हैं, तो मौन ही सहायक हो सकता है, वही प्रोत्साहन है।

"सोचता हूँ, दाम्पत्य-जीवन मे शुरू मे—इतनी—कोमलता न बरती होती! कहते हैं कि स्त्री-पुरुष मे पहले सख्य आना चाहिए—मानसिक अनुकूलता—"

मैंने कनखियो से उन की तरफ देखा। सीधे देखने से स्वीकारी अन्तरात्मा की खुलती सीपी खट् से बन्द हो जाया करती है। उन्हे कहने दूँ।

पर उन्होने जो कहा, उस के लिए मैं बिलकुल तैयार नही था और अगर उन के कहने के ढग मे ही इतनी गहरी वेदना न होती तो जो शब्द कहे गये थे, उन से पूरा व्यजनार्थ भी मैं न पा सकता···

"हमारी कोई सन्तान नही है। और अब—जिस से आगे कुछ नही है, वह सख्य भी कैसे हो सकता है? उसे—एक सन्तान का ही सहारा होता 'कुछ नही'! प्रधान, यह 'कम्पैशनेट लीव' अच्छा मजाक है—कम्पैशन भगवान् को छोड कर और कौन दे सकता है और मृत्यु के अलावा होता कहाँ है? अब इति से आरम्भ है! घर!" कुछ रुक कर "वापसी? घर!"

मैं सन्न रह गया। कुछ बोल न सका। थोडी देर बाद चौक कर देखा कि गाडी की चाल अपने-आप बहुत धीमी हो गयी है, इतनी कि तीसरे गीयर पर झटके दे रही है। मैंने कुछ सँभल कर गीयर बदला, और फिर

गाडी तेज़ कर के एकाग्र हो कर चलाने लगा—नही, एकाग्र हो कर नही, एकाग्र दीखता हुआ।

तब मेजर चौधरी एक बार अपना सिर झटके से हिला कर मानो उस विचार-शृंखला को तोड़ते हुए सीधे हो कर बैठ गये। थोडी देर बाद उन्होने कहा, "क्षमा करना, प्रधान, मैं शायद अनकहनी कह गया। तुम्हारे प्रश्नो के लिए तैयार नही था—"

मैंने रुकते-रुकते कहा—"मेजर, मेरे पास शब्द नही है कि मैं कुछ कहूँ—"

"कहोगे क्या, प्रधान ! कुछ बाते शब्द से परे होती है—शायद कल्पना से भी परे होती है। क्या मैं भी जानता हूँ कि—कि घर लौट कर मैं क्या अनुभव करूँगा ? छोडो इसे। तुम्हे याद है, पिछले साल मैं कुछ महीने मिलिटरी पुलिस मे चला गया था ?"

मैंने जाना कि मेजर विषय बदलना चाह रहे है। पूरी दिलचस्पी के साथ बोला, "हाँ-हाँ ! वह अनुभव भी अजीब रहा होगा।"

"हाँ। तभी की एक बात अचानक याद आयी है। मैं शिलङ् मे प्रोवोस्ट मार्शल[1] के दफ्तर मे था। तब—वे, डिवीजन की कुछ गोरी पलटने, वहाँ विश्राम और नये सामान के लिए बर्मा से लौट कर आयी थी।"

"हाँ, मुझे याद है। उन लोगो ने कुछ उपद्रव भी वहाँ खडा किया था—"

"काफी ! एक रात मै जीप लिये गश्त पर जा रहा था। हैपी वैली की छावनी मे जो सडक शिलङ् बस्ती को आती है वह बडी टेढी-मेढ़ी और उतार-चढाव की है और चीड के झुरमुटों से छायी हुई, यह तो तुम जानते हो। मैं एक मोड से निकला ही था कि मुझे लगा, कुछ चीज रास्ते से उछल कर एक ओर को दुबक गयी है। गीदड-लोमडी उधर बहुत हैं, पर उन की छलांग ऐसी अनाड़ी नही होती, इस लिए मैं रुक गया। झुरमुटो के किनारे खोजते हुए मैंने देखा, एक गोरा फ़ौजी छिपना चाह रहा है। छिपना चाहता है तो अवश्य अपराधी है, यह सोच कर मैंने उसे जरा धमकाया और नाम,

---

1 सैनिक पुलिस का उच्चाधिकारी प्रोवोस्ट मार्शल कहलाता है।

नम्बर, पलटन आदि का पता लिख लिया। वह बिना पास के रात को बाहर तो था ही, पूछने पर उसने बताया कि वह एक मील और नीचे नाङ्-थिम्-माई की बस्ती को जा रहा था। इस से आगे का प्रश्न मैंने नही पूछा—उन प्रश्नो का उत्तर तुम जानते ही हो और पूछ कर फिर कडा दण्ड देना पडता है जो कि अधिकारी नही चाहते—जब तक कि खुल्लम-खुल्ला कोई बडा स्कैण्डल न हो।"

"हूँ! मैंने तो सुना है कि यथासम्भव अनदेखी की जाती है ऐसी बातो की। बल्कि कोई वेश्यालय मे पकडा जाये और उस की पेशी हो तो असली अपराध के लिए नही होती, वर्दी ठीक न पहनने या अफसर की अवज्ञा या ऐसे ही किसी जुर्म के लिए होती है।"

"ठीक ही सुना है तुमने। असली अपराध के लिए ही हुआ करे तो अव्वल तो चालान इतने हो कि सेना बदनाम हो जाये; इस मे इस का असर फौजियो पर भी तो उलटा पडे—उन का दिमाग हर वक्त उधर ही जाया करे। खैर! उस दिन तो मैंने उसे डाँट-डपट कर छोड दिया। पर दो दिन बाद फिर एक अजीब परिस्थिति मे उस का सामना हुआ।"

"वह कैसे?"

"उस दिन मैं अधिक देर कर के जा रहा था। आधी रात होगी, गश्त पर जाते हुए उसी जगह के आस-पास मैंने एक चीख सुनी। गाडी रोक कर मैंने बत्ती बुझा दी और टार्च लेकर एक पुलिया की ओर गया जिधर से आवाज आयी थी। मेरा अनुमान ठीक ही था, पुलिया के नीचे एक पहाडी औरत गुस्से से भरी खडी थी, और कुछ दूर पर एक अस्त-व्यस्त गोरा फौजी, जिस की टोपी और पेटी जमीन पर पडी थी और बुशशर्ट हाथ मे। मैंने नीचे उतर कर डाँट कर पूछा, "यह क्या है?" पर तभी मैंने उस फौजी की आँखो मे देख कर पहचाना कि एक तो वह परसो वाला व्यक्ति है, दूसरे वह काफी नशे मे है। मैंने और भी कडे स्वर मे पूछा, "तुम्हे शरम नही आती? क्या कर रहे थे तुम?"

"वह बोला, 'यह मेरी है।'

"मैंने कहा, 'बको मत!' और उस औरत से कहा कि वह चली जाये। पर वह ठिठकी रही। मैंने उस से पूछा, 'जाती क्यो नही?' तब वह

कुछ सहमी-सी बोली, 'मेरे रुपये ले दो' ।"

"काफ़ी बेशर्म रही होगी वह भी !"

"हाँ, मामला अजीब ही था। दोनो को डाँटने पर दोनो ने जो टूटे-फूटे वाक्य कहे उस मे यह समझ मे आया कि दो-तीन घण्टे पहले वह गोरा एक बार उस औरत के पास हो गया था और फिर आगे गाँव की तरफ चला गया था। लौट कर फिर उसे वह रास्ते मे मिली तो गोरे ने उसे पकड लिया था। झगडा इसी बात का था कि गोरे का कहना था, वह रात के पैसे दे चुका है, और औरत का दावा था कि पिछला हिसाब चुकता था, और अब फौजी उसका देनदार है। मैंने उसे धमका कर चलता किया। पहले तो वह गालियाँ देने लगी, पर जब उसने देखा कि गोरा भी गिरफ्तार हो गया है तो बड़बडाती चली गयी ।"

"फिर गोरे का क्या हुआ ? उसे तो कडी सज़ा मिलनी चाहिए थी ?"

मेजर चौधरी थोडी देर तक चुप रहे । फिर बोले, "नही, प्रधान, उसे सजा नही मिली । मालूम नही वह मेरी भूल थी या नही, पर जीप मे ले आने के घंटा-भर बाद मैंने उसे छोड़ दिया ।"

मैंने अचानक कहा, "वाह, क्यो ?" फिर यह सोच कर कि यह प्रश्न कुछ अशिष्ट-सा हो गया है, मैंने फिर कहा, "कुछ विशेष कारण ही रहा होगा—"

"कारण ? हाँ, कारण था शायद । यह तो इस पर है कि कारण कहते किसे है । मैंने जैसे छोडा वह बताता हूँ ।"

मैं प्रतीक्षा करता रहा । मेजर कहने लगे, "उसे मैं जीप मे ले आया । थोडी देर टार्च का प्रकाश उस के चेहरे पर डाल कर घूरता रहा कि वह और जरा सहम जाये । तब मैने कड़क कर पूछा, 'तुम्हे शरम नही आयी अपनी फौज का और ब्रिटेन का नाम कलंकित करते ? अभी परसों मैंने तुम्हे पकड़ा था और माफ कर दिया था ।' मेरे स्वर का उस के नशे पर कुछ असर हुआ । जरा सँभल कर बोला, 'सर, मै कुछ बुरा नही करना चाहता था—' मैंने फिर डाँटा, 'सड़क पर एक औरत को पकड़ते हो और कहते हो कि बुरा करना नही चाहते थे ?' वह बग़ले झाँकने लगा, पर फिर भी सफ़ाई देता हुआ-सा बोला, 'सर, वह अच्छी औरत नही

है। वह रुपया लेती है—मैं तीन दिन से रोज उस के पास जाता हूँ।' मेने सोचा, वेहयाई इतनी हो तो कोई क्या करे ? पर इस टामी जन्तु मे जन्तु का-सा सीधापन भी है जो ऐसी वात कर रहा है। मैंने कहा, 'और तुम तो अपने को वडा अच्छा आदमी समझते होगे न, एकदम स्वर्ग से झरा हुआ फरिश्ता ?' वह वैसे ही बोला, 'नही सर, लेकिन—लेकिन—'

"मैं ने कहा, 'लेकिन क्या ? तुम ने अपनी पलटन का और अपना मुँह काला किया है, और कुछ नही।' तभी मुझे उस औरत की वात याद आयी कि यह कुछ घटे पहले उसके पास हो गया था, और मेरा गुस्सा फिर भड़क उठा। मैंने उस से कहा, 'थोडी देर पहले तुम एक वार वच कर चले भी गये थे उस से तुम्हे सन्तोप नही हुआ ? आगे गाँव मे कहाँ गये थे ? एक वार काफी नही था ?'

"अव तक वह कुछ और सँभल गया था। वोला, 'सर, गलती मैंने की है। लेकिन—लेकिन मैं अपने साथियो से वरावर होना चाहता हूँ—'

मैंने चौंक कर कहा, 'क्या मतलव ?'

"वह वोला, 'हमारा डिवीज़न छह हफ्ते हुए यहाँ आ गया था, आप जानते हैं। डेढ साल मे हम लोग फ्रट पर थे जहाँ औरत का नाम नहीं, खाली मच्छड और कीचड और पेचिश होती है। वहाँ से मेरी पलटन छह हफ्ते पहले लौटी थी, पर मैं एक ब्रेकडाउन टुकडी के साथ पीछे रह गया था।'

' 'तो फिर ?' मैंने पूछा।"

"वोला, 'डिवीजन मे मेरी पलटन सव से पहले यहाँ आयी थी, वाकी पलटने पीछे आयीं। छह हफ्ते से वे लोग यहाँ हैं, और मैं कुल परसो आया हूँ और दस दिन मे हम लोग वापस चले जायेंगे।' "

"मैंने डाँटा, 'तुम्हारा मतलव क्या है ?' उसने फिर धीरे-धीरे जैसे मुझे समझाते हुए कहा, 'सारे शिलङ् के गाँवो की, नेटिव वस्तियो की छाँट उन्हों ने की है। मैं केवल परसो आया हूँ और दस दिन हमें और रहना है। मैं उन के वरावर होना चाहता हूँ, किसी—मे पीछे मैं नही रहना चाहता।' "

मेजर चौधरी चुप हो गये। मैं भी कुछ देर चुप रहा। फिर मैंने कहा, "क्या दलील है ! ऐसा विकृत तर्क वह कैसे कर सका—नशे का ही असर रहा होगा। फिर आपने क्या किया ?"

"मैं मानता हूँ कि तर्क विकृत है। पर इसे पेश कर सकने में मनुष्य से नीचे के निरे मानव-जन्तु का साहस है, बल्कि साहस भी नहीं, निरी जन्तु-बुद्धि है, और इस लिए उस पर विचार भी उसी तल पर होना चाहिए ऐसा मुझे लगा। समझ लो, जन्तु ने जन्तु को माफ कर दिया। बल्कि यह कहना चाहिए कि जन्तु ने जन्तु को अपराधी ही नहीं पाया।" कुछ रुक कर वह कहते गये, 'यह भी मुझे लगा कि व्यक्ति में ऐसी भावना पैदा करने वाली सामूहिक मन:स्थिति ही हो सकती है, और यदि ऐसा है तो समूह को ही दायी मानना चाहिए।"

स्टेशन वैगन हचकोले खाता हुआ बढ़ता रहा। मैं कुछ बोला नहीं। मेजर चौधरी ने कहा, "तुमने कुछ कहा नहीं। शायद तुम समझते हो कि मैंने भूल की, इसी लिए चुप हो। पर वैसा कह भी दो तो मैं बुरा न मानूँ—मेरा बिलकुल दावा नहीं है कि मैंने ठीक किया।"

मैंने कहा, "नहीं, इतना आसान तो नहीं है कुछ कह देना—" और चुप लगा गया। अपने अनुभव की भी एक घटना मुझे याद आयी, उसे मैं मन-ही-मन दोहराता रहा। फिर मैंने कहा, "एक ऐसी ही घटना मुझे भी याद आती है—"

"क्या ?"

"उस में ऐसा तीखापन तो नहीं है, पर जन्तु-तर्क की बात वहाँ भी लागू होती है। एक दिन जोरहाट क्लब में एक भारतीय नृत्य-मंडली आयी थी—हम लोग सब देखने गये थे। उस मंडली को और आगे लीडो रोड की तरफ जाना था, इस लिए उसे एक ट्रक में बिठा कर मरियानी स्टेशन भेजने की व्यवस्था हुई। मुझे उस ट्रक को स्टेशन तक सुरक्षित पहुँचा देने का काम सौंपा गया।

"ट्रक में मंडली की छहों लड़कियाँ और साजिन्दे वगैरह बैठ गये, तो मैंने ड्राइवर को चलने को कहा। गाड़ी से उड़ी हुई धूल को बैठ जाने के लिए कुछ समय दे कर मैं भी जीप में क्लब से बाहर निकला। कुछ

दूर तो बजरी की सडक थी, उस के बाद जब पक्की तारकोल की सडक आयी और धूल बन्द हो गयी तो मैंने तेज बढ कर ट्रक को पकड लेने की सोची। कुछ देर बाद सामने ट्रक की पीठ दीखी, पर उस की ओर देखते ही मैं चौंक गया।"

"क्यों, क्या बात हुई ?"

"मैंने देखा, ट्रक की छत तक बाँहें फैलाये और पीठ की तख्ती के ऊपरी सिरे को दाँतों से पकडे हुए एक आदमी लटक रहा था। तनिक और पास आ कर देखा, एक बावर्दी गोरा था ! उस के पैर किसी चीज पर टिके नहीं थे, बूट यों ही झूल रहे थे। क्षण-भर तो मैं चकित सोचता ही रहा कि क्या दाँतों और नाखूनों की पकड इतनी मजबूत हो सकती है ! फिर मैंने लपक कर जीप उस ट्रक के बराबर कर के ड्राइवर को रुक जाने को कहा।"

"फिर ?"

"ट्रक रुका तो हमने उस आदमी को नीचे उतारा। उस के हाथों की पकड इतनी सख्त थी कि हमने उसे उतार लिया तब भी उस की उँगलियाँ सीधी नहीं हुईं—वे जकडी-जकडी ही ऐंठ गयी थीं ! और गोरा नीचे उतरते ही जमीन पर ही ढेर हो गया।"

"जरूर पिये हुए होगा—"

"हाँ—एकदम धुत् ! आँखों की पुतलियाँ बिलकुल विस्फारित हो रही थीं, वह भौचक्का-सा बैठा था। मैंने डपट कर उठाया तो लडखडा कर खडा हो गया। मैंने पूछा, 'तुम ट्रक के पीछे क्यों लटके हुए थे ?' तो बोला, 'सर, मैं लिफ्ट चाहता हूँ ?' मैंने कहा, लिफ्ट का वह कोई ढंग है ? चलो, मेरी जीप में चलो, मैं पहुँचा दूँगा। कहाँ जाना है तुम्हें ?' इस का उसने कोई उत्तर नहीं दिया। हम लोग जीप में घुसे, वह लड़खड़ाता हुआ चढा और पीछे सीटों के बीच में फर्श पर धप् से बैठ गया।

"हम चल पडे। हठात् उस ने पूछा, 'सर, आप स्कॉच हैं ?' मैंने लक्ष्य किया, नशे में वह यह नहीं पहचान सकता कि मैं भारतीय हूँ या अँगरेज, पर इतना पहचानता है कि मैं अफसर हूँ और उसे 'सर' कहना चाहिए। फ़ौजी ट्रेनिंग भी बडी चीज है जो नशे की तह को भी भेद जाती है ! ख़ैर !

मैंने कहा, 'नही, मै स्कॉच नही हूँ।'

"वह जैसे अपने से ही बोला, 'डैम फ़ाइन व्हिस्की !' और जबान चटखारने लगा। मै पहले तो समझा नही, फिर अनुमान किया कि स्कॉच शब्द मे उस का मदसिक्त मन केवल व्हिस्की का ही सम्बन्ध जोड़ सकता है···तब मैंने कहा, 'हाँ। लेकिन तुम जाओगे कहाँ ?"

"बोला, 'मुझे यही कही उतार दीजिए—जहाँ कही कोई नेटिव गाँव पास हो।' मैंने डपट कर कहा, 'क्यों, क्या मंशा है तुम्हारा ?' तब उस का स्वर अचानक रहस्य-भरा हो आया, और वह बोला, 'सच बताऊँ, सर ? मुझे औरत चाहिए !' मैंने कहा, 'यहाँ कहाँ है औरत ?' तो बोला, 'सर, मैं ढूंढ लूंगा, आप कही गाँव-वाँव के पास उतार दीजिए।' "

"फिर तुमने क्या किया ?"

"मेरे जी मे तो आया कि दो थप्पड़ लगाऊँ। पर सच कहूँ तो उस के 'मुझे औरत चाहिए' के निर्व्याज कथन ने ही मुझे निरस्त्र कर दिया—मुझे भी लगा कि इस जन्तुत्व के स्तर पर मानव ताडनीय नही, दयनीय है। मैंने तीन-चार मील आगे सड़क पर उसे उतार दिया—जहाँ आस-पास कही गाँव का नाम-निशान न हो और लौट जाना भी जरा मेहनत का काम हो। अब तक कई बार सोचता हूँ कि मैंने उचित किया या नही—"

"ठीक ही किया—और क्या कर सकते थे ? दण्ड देना कोई इलाज न होता। मैं तो मानता हूँ कि जन्तु के साथ जन्तुतर्क ही मानवता है, क्योंकि वही करुण; और न्याय, अनुशासन, ये सब अन्याय है जो उस जन्तुत्व को पाशविकता ही बना देंगे।"

हम लोग फिर बहुत देर चुप रहे। नाकाचारी चार-आली पार कर के हमने मरियानी की सड़क पकड़ ली थी, कच्ची यह भी थी पर उतनी खराब नही, और हम पीछे धूल के बादल उड़ाते हुए ज़रा तेज चल रहे थे। अचानक मेजर चौधरी मानो स्वगत कहने लगे, "और मै मनुष्य हूँ। मै नही सोच सकता कि 'यह मेरी है' या कि 'मुझे औरत चाहिए !' मै छुट्टी पर जा रहा हूँ—कम्पैशनेट छुट्टी पर। कम्पैशन यानी रहम—मुझ पर रहम किया गया है, क्योंकि मै उस गोरे की तरह हिर्स नही कर सकता कि मै किसी के बराबर होना चाहता हूँ। नही, हिर्स तो कर सकता हूँ,

पर मनुष्य हूँ और मैं वापस जा रहा हूँ घर। घर!"

मैं चुपचाप आँखे सामने गडाये स्टेशन-वैगन चलाता रहा और मानता रहा कि मेजर का वह अजीव स्वर मे उच्चारित शव्द 'घर!' गाडी की घर्र-घर्र मे लीन हो जाये; उसे सुनने, सुन कर स्वीकारने की वाध्यता न हो।

उन्होंने फिर कहा, "एक वार मै ट्रेन से आ रहा था तो उसी कम्पार्टमेंट मे छुट्टी से लौटता हुआ एक पंजावी सूवेदार मेजर अपने एक साथी को अपनी छुट्टी का अनुभव सुना रहा था। मै ध्यान तो नही दे रहा था, पर अचानक एक वात मेरी चेतना पर अँक गयी और उस की स्मृति बनी रह गयी। सूवेदार-मेजर कह रहा था—'छुट्टी मिलती नही थी, कुल दस दिन की मजूर हुई तो घर वालो को तारीखे लिखी, पर उस का तार आया कि छुट्टी और पन्द्रह दिन वाद लेना। मुझे पहले तो सदमा पहुँचा, पर उस ने चिट्ठी मे लिखा था कि दस दिन की छुट्टी मे तीन तो आने-जाने के, वाकी छह दिन मे से मैं नही चाहती कि तीन यो ही जाया हो जाये।' और इस पर उस के साथी ने दवी ईर्ष्या के साथ कहा था, 'तकदीर वाले हो भाई '"

मैंने कहा, "युद्ध मे इनसान का गुण-दोष सव चरम रूप ले कर प्रकट होता है। मुश्किल यही है कि गुण प्रकट होते है तो मृत्यु के मुख मे ले जाते है, दोष सुरक्षित लौटा लाते है। युद्ध के खिलाफ यह कम वडी दलील नही है—प्रत्येक युद्ध के वाद इनसान चारित्रिक दृष्टि से और गरीव हो कर लौटता है।"

"यद्यपि कहते हैं कि तीखा अनुभव चरित्र को पुष्ट करता है—"

"हाँ, लेकिन जो पुष्ट होते है वे लौटते कहाँ हैं?" कहते-कहते मैंने जीभ काट ली, पर वात मुँह से निकल गयी थी।

मेजर चोधरी की पलके एक वार सकुच कर फैल गयी, जैसे नश्तर के नीचे कोई अग होने पर। उन्होने सँभल कर वैठते हुए कहा, 'थैंक यू, कैप्टेन प्रधान! हम लोग मरियानी के पास आ गये—मुझे स्टेशन उतारते जाना, तुम्हारे डिपो जा कर क्या करूँगा—"

तिराहे से गाडी मैंने स्टेशन की ओर मोड दी।

●

जय-दोल

लेफ्टिनेंट सागर ने अपना कीचड़ से सना चमड़े का दस्ताना उतार कर, ट्रक के दरवाज़े पर पटकते हुए कहा, "गुरुंग, तुम गाड़ी के साथ ठहरो, हम कुछ बन्दोबस्त करेगा।"

गुरुंग सड़ाक् से जूतों की एड़ियाँ चटका कर बोला, "ठीक ए सा'ब !"

साँझ हो रही थी। तीन दिन मूसलाधार बारिश के कारण नवगाँव मे रुके रहने के बाद, दोपहर को थोड़ी देर के लिए आकाश खुला, तो लेफ्टिनेंट सागर ने और देर करना ठीक न समझा। ठीक क्या न समझा, आगे जाने के लिए वह इतना उतावला हो रहा था कि उसने लोगो की चेतावनी को अनावश्यक सावधानी माना, और यह सोच कर कि वह कम से कम शिवसागर तो जा ही रहेगा रात तक, वह चल पडा था। जोरहाट पहुँचने तक ही शाम हो गयी थी, पर उसे शिवसागर के मन्दिर देखने का इतना चाव था कि वह रुका नही, जल्दी से चाय पी कर आगे चल पड़ा। रात जोरहाट मे रहे तो सवेरे चल कर सीधे डिबरूगढ जाना होगा, रात शिवसागर मे रह कर सवेरे वह मन्दिर और ताल को देख सकेगा। शिवसागर, रुद्रसागर, जयसागर—कैसे सुन्दर नाम है। सागर कहलाते है तो बड़े-बड़े ताल होगे—और प्रत्येक के किनारे पर बना हुआ मन्दिर कितना सुन्दर दीखता होगा ··असमिया लोग है भी बड़े साफ-सुथरे, उन के गाँव इतने स्वच्छ होते हैं तो मन्दिरो का क्या कहना···शिवदोल, रुद्र-दोल, जयदोल—सागर-तट के मन्दिर को दोल कहना कैसी सुन्दर कवि-कल्पना है। सचमुच जब ताल के जल मे, मन्द-मन्द हवा से सिहरती चाँदनी मे, मन्दिर की कुहासे-सी परछाई दोलती होगी, तब मन्दिर सचमुच सुन्दर हिंडोले-सा दीखता होगा · इसी उत्साह को लिये वह बढ़ता जा रहा था—

तीस-पैंतीस मील का क्या है—घण्टे-भर की बात है ·

लेकिन सात-एक मील बाकी थे कि गाडी कच्ची सडक के कीचड मे फँस गयी। पहले तो स्टीयरिंग ऐसा मक्खन-सा नरम चला, मानो गाडी नही नाव की पतवार हो, और नाव बडे से भँवर मे हचकोले खाती झूम रही हो, फिर लेफ्टिनेंट के सँभालते-सँभालते गाडी धीमी हो कर रुक गयी, यद्यपि पहियो के घूमते रह कर कीचड उछालने की आवाज आती रही

इस के लिए साधारणतः तैयार हो कर ही ट्रक चलते थे। तुरन्त बेलचा निकाला गया, कीचड साफ करने की कोशिश हुई। लेकिन कीचड गहरा और पतला था, बेलचे का नही, पम्प का काम था! फिर टायरो पर लोहे की जजीरे चढायी गयी। पहिये घूमने पर कही पकडने को कुछ मिले तो गाडी आगे ठिले—मगर चलने की कोशिश पर लीक गहरी कटती गयी और ट्रक धँसता गया, यहाँ तक कि नीचे का गीयर-बक्स भी कीचड़ मे डूबने को हो गया ·मानो इतना काफी न हो, तभी इंजन ने दो-चार बार फट्-फट्-फटर का शब्द किया और चुप हो गया—फिर स्टार्ट ही न हुआ ·

अँधेरे मे गुरुग का मुँह नही दीखता था और लेफ्टिनेंट ने मन-ही-मन सन्तोष किया कि गुरुग को उस का मुँह भी नही दीखता होगा ·गुरुग गोरखा था और फौजी गोरखो की भाषा कम-से-कम भावना की दृष्टि से गूँगी होती है मगर आँखे या चेहरे की झुर्रियाँ सब समय गूँगी नही होती ·· और इस समय अगर उन मे लेफ्टिनेंट सा'ब की भावुक उतावली पर विनोद का आभास भी दीख गया, तो दोनो मे मूक वैमनस्य की एक दीवार खडी हो जायेगी···

तभी सागर ने दस्ताने फेंक कर कहा, "हम कुछ बन्दोबस्त करेगा," और फिच्च-फिच्च कीचड मे जमा-जमा कर बूट रखता हुआ आगे बढ चला।

कहने को तो उस ने कह दिया, पर बन्दोबस्त वह क्या करेगा रात मे ? बादल फिर घिरने लगे, शिवसागर सात मील है तो दूसरे सागर भी तीन-चार मील तो होंगे और क्या जाने कोई बस्ती भी होगी कि नही; और जयसागर तो बड़े बीहड मैदान के बीच मे है···उसने पढा था कि

उस मैदान के बीच मे ही रानी जयमती को यन्त्रणा दी गयी थी कि वह अपने पति का पता बता दे। पाँच लाख आदमी उसे देखने इकट्ठे हुए थे, और कई दिनो तक रानी को सारी जनता के सामने सताया और अपमानित किया गया था।

एक बात हो सकती है कि पैदल ही शिवसागर चला जाये। पर उस कीचड मे फिच्च-फिच्च सात मील! उसी मे भोर हो जायेगा, फिर तुरत गाडी के लिए वापस जाना पडेगा ··फिर नही, वह बेकार है। दूसरी सूरत—रात गाडी मे ही सोया जा सकता है। पर गुरुंग? वह भूखा ही होगा—कच्ची रसद तो होगी, पर बनायेगा कैसे? सागर ने तो गहरा नाश्ता किया था, उस के पास बिस्कुट-वगैरह भी है·· पर अफसरी का बड़ा कायदा है कि अपने मातहत को कम-से-कम खाना तो ठीक खिलाये—शायद आस-पास कोई गाँव हो—

कीचड मे कुछ पता न लगता था कि सडक कितनी है और अगल-बगल का मैदान कितना। पहले तो दो-चार पेड भी किनारे-किनारे थे, पर अब वह भी नही—दोनो ओर सपाट सूना मैदान था, और दूर के पेड़ भी ऐसे धुँधले हो गये थे कि भ्रम हो, कही चश्मे पर नमी की ही करामात तो नही है। अब रास्ता जानने का एक ही तरीका था, जहाँ कीचड़ कम गहरा हो वही सड़क; इधर-उधर हटते ही पिंडलियाँ तक पानी मे डूब जाती थी और तब वह फिर धीरे-धीरे पैर से टटोल कर मध्य मे आ जाता था···

यह क्या है? हाँ, पुल-सा है—यह रेलिङ् है। मगर दो पुल है सम-कोण बनाते हुए·· क्या दो रास्ते है? कौन-सा पकड़ें?

एक कुछ ऊँची जमीन की ओर जाता जान पड़ता था। ऊँचे पर कीचड़ कम होगा, इस बात का ही आकर्षण काफी था, फिर ऊँचाई पर से शायद कुछ दीख भी जाये। सागर उधर ही को चल पडा। पुल के पार ही सडक एक ऊँची उठी हुई पटरी-सी बन गयी, तनिक आगे इस मे कई मोड़ से आये, फिर जैसे धन-खेत में कही-कही कई-एक छोटे-छोटे खेत एक-साथ पड़ने पर उनकी मेड मानो एक-साथ ही कई ओर जाती जान पड़ती है, इसी तरह वह पटरी भी कई ओर को जाती-सी जान पड़ी। सागर मानो

एक बिन्दु पर खड़ा है, जहाँ से कई ओर कई रास्ते है, प्रत्येक के दोनो ओर जल···मानो अथाह समुद्र मे पटरियाँ बिछा दी गयी हों···

सागर ने एक बार चारो ओर नजर दौडायी। शून्य! उसने फिर आँखो की कोरें कस कर झाँक कर देखा, बादलो की रेखा मे एक कुछ अधिक घनी-सी रेखा उसे दीखी···बादल ऐसा समकोण नही हो सकता। नही, यह इमारत है···सागर उसी ओर को बढने लगा। रोशनी नही दीखती, पर शायद भीतर कोई हो—

पर ज्यो-ज्यो वह निकट जाता गया, उस की आशा धुँधली पड़ती गयी। वह असमिया घर नही हो सकता—इतने बडे घर अब कहाँ है—फिर यहाँ, जहाँ बाँस और फूस के बासे ही हो सकते है, ईंट के घर नही—अरे, यह तो कोई बडी इमारत है—क्या हो सकती है?

मानो उस के प्रश्न के उत्तर मे ही सहसा आकाश मे बादल कुछ फीका पडा और सहसा धुँधला-सा चाँद भी झलक गया। उस के अधूरे प्रकाश मे सागर ने देखा—एक बडी-सी, ऊपर से चपटी-सी इमारत—मानो दुमजिली बारादरी·· बरामदे-से, जिस मे कई-एक महराबे, एक के बीच से मानो आकाश झाँक दिया ··

सागर ठिठक कर क्षण-भर उसे देखता रहा। सहसा उस के भीतर कुछ जागा जिसने इमारत को पहचान लिया—यह तो अहोम राजाओ का क्रीडा-भवन है—क्या नाम है?—रंग-महल, नही, हवा-महल—नही, ठीक याद नही आता, पर यह उस बडे पठार के किनारे पर है जिस मे जयमती—

एकाएक हवा सनसना उठी। आस-पास के पानी मे जहाँ-तहाँ नरसल के झोप थे, झुक कर फुसफुसा उठे, जैसे राजा के आने पर भृत्यो-सेवको मे एक सिहरन दौड़ जाये·· एकाएक यह लक्ष्य कर के कि चाँद फिर छिपा जा रहा है, सागर ने घूमकर चीन्ह लेना चाहा कि ट्रक किधर कितनी दूर है, पर वह अभी यह भी तय नही कर सका था कि कहाँ क्षितिज है जिस के नीचे पठार है और ऊपर आकाश या मेघाली कि चाँद छिप गया, और अगर उसने खूब अच्छी तरह आकर पहचान न रखा होता तो रग-महल या हवा-महल भी खो जाता· ·

महल मे छत होगी। वहाँ सूखा होगा। वहाँ आग भी जल सकती है। शायद विस्तर ला कर सोया भी जा सकता है। ट्रक से तो यही अच्छा रहेगा—गाडी को तो कोई खतरा नही—

सागर जल्दी-जल्दी आगे वढ़ने लगा।

रंग-महल वहुत बड़ा हो गया था। उस की कुरसी ही इतनी ऊँची थी कि असमिया घर उस की ओट छिप जाये। पक्के फ़र्श पर पैर पड़ते ही सागर ने अनुमान किया, तीस-पैंतीस सीढ़ियाँ होगी···सीढ़ियाँ चढ़ कर वह असली ड्योढ़ी तक पहुँचेगा।

ऊपर चढ़ते-चढ़ते हवा चीख उठी। कई महरावों ने मानो उससे गुर्रा कर कहा, 'कौन हो तुम, इतनी रात गये मेरा एकान्त भंग करने वाले ?' विरोध के फूत्कार का वह थपेडा इतना सच्चा था कि सागर मानो फुस-फुसा ही उठा, 'मैं—सागर, आसरा ढूंढता हूँ—रैनवसेरा—'

पोपले मुँह का बूढ़ा जैसे खिखिया कर हँसे, वैसे ही हवा हँस उठी। 'ही—ही—ही—खी—खी—खी: ! यह हवा-महल है, हवा-महल—अहोम राजा का लीलागार—अहोम राजा का—व्यसनी, विलासी, छहों इन्द्रियों से जीवन की लिसड़ी वोटी से छहो रसों को चूस कर उसे झँझोड़ कर फेक देने वाले नृशंस लीलापिशाचो का—यहाँ आसरा—यहाँ वसेरा··· ही—ही—ही—खी—खी—खी: !'

सीढ़ियो की चोटी से मेहरावों के तले खड़े सागर ने नीचे और वाहर की ओर देखा। शून्य, महाशून्य ! वादलों से, वादलो मे वसी नमी और ज्वाला से प्लवन, वज्र और विजली से भरा हुआ शून्य ! क्या उसी की गुर्राहट हवा मे है, या कि नीचे फैले नंगे पठार की, जिस के चूतडो पर दिन-भर सड़-सड पानी के कोड़ो की वौछार पड़ती रही है ? उसी पठार का आक्रोश, सिसकन, रिरियाहट ?

इसी जगह, इसी मेहराव के नीचे खड़े कभी अधनगे अहोम राजा ने अपने गठीले शरीर को दर्प से अकडा कर, सितार की खूँटी की तरह उमेठ कर, वाँये हाथ के अँगूठे को कमरवन्द मे अटका कर, सीढियो पर खड़े क्षत-शरीर राजकुमारों को देखा होगा, जैसे कोई साँड खसिया वैलो के झुण्ड को देखे, फिर दाहिने हाथ की तर्जनी को उठा कर दाहिने भ्रू को

तनिक-सा कुचित कर के, सकेत से आदेश किया होगा कि यन्त्रणा को और कडी होने दो।

लेफ्टिनेंट सागर की टाँगे मानो शिथिल हो गयीं। वह सीढी पर बैठ गया, पैर उस ने नीचे को लटका दिये, पीठ मेहराब के निचले हिस्से से टेक दी। उस का शरीर थक गया था दिन-भर स्टीयरिंग पर बैठे-बैठे और पौने दो सौ मील तक कीचड की सडक मे बनी लीकों पर आँखे जमाये रहने से आँखें भी ऐसे चुनचुना रही थी मानो उन मे बहुत बारीक पिसी हुई रेत डाल दी गयी हो—आँखे बन्द भी वह करना चाहे और बन्द करने मे क्लेश भी हो—वह आँख खुली रख कर ही किसी तरह दीठ को समेट ले, या बन्द कर के देखता रह सके, तो ··

अहोम राजा चूलिक-फा—राजा मे ईश्वर का अंश होता है, ऐसे अन्ध-विश्वास पालनेवाली अहोम जाति के लिए यह मानना स्वाभाविक ही था कि राजकुल का अक्षत-शरीर व्यक्ति ही राजा हो सकता है, जिस के शरीर मे कोई क्षत है, उस मे देवत्व का अश कैसे रह सकता है? देवत्व—और क्षुण्ण? नही। ईश्वरत्व अक्षुण्ण ही होता है, और राज-शरीर अक्षत—

अहोम परम्परा के अनुसार कुल-घात के सेतु से पार हो कर चूलिक-फा भी राजसिंहासन पर पहुँचा। लेकिन वह सेतु सदा के लिए खुला रहे, इस के लिए उस ने एक अत्यन्त नृशंस उपाय सोचा। अक्षत-शरीर राजकुमार ही राजा हो सकते हैं, अतः सारे अक्षत-शरीर राजकुमार उस के प्रतिस्पर्धी और सम्भाव्य घातक हो सकते है। उन के निराकरण का उपाय यह है कि सब का एक-एक कान या छिगुनी कटवा ली जाये—हत्या भी न करनी पडे, मार्ग के रोडे भी हट जाये। लाठी न टूटे, साँप भी मरे नही, पर उस के विषदन्त उखड जाये। क्षत-शरीर, कनकटे या छिगुनी-कटे राजकुमार राजा हो ही नही सकेंगे, तब उन्हे राज-घात का लोभ भी न सतायेगा।

चूलिक-फा ने सेनापति को बुलाकर गुप्त आज्ञा दी कि रात मे चुपचाप राज-कुल के प्रत्येक व्यक्ति के कान (या छिगुनी) काट कर प्रात काल दरबार मे राज-चरणो मे अर्पित किये जाये।

और प्रात.काल वही, रंग-महल की सीढियो पर, उस के चरणो मे यह बीभत्स उपहार चढाया गया होगा—और उस ने उसी दर्प-भरी अवज्ञा

में, होठों की तार-सी तनी पतली रेखा को तनिक मीड़-सी दे कर, शब्द किया होगा, 'हूँ' और रक्त-सने थाल को पैर से तनिक-सा ठुकरा दिया होगा !

चूलिक-फा—निष्कटक राजा ! लेकिन नही, यह तीर-सा कैसा साल गया ? एक राजकुमार भाग गया—अक्षत !

लेफ्टिनेंट सागर मानो चूलिक-फा के चीत्कार को स्पष्ट सुन सका। अक्षत ! भाग गया ?

वहाँ सामने—लेफ्टिनेंट ने फिर आँखों को कस कर बादलो की दरार को भेदने की कोशिश की—वहाँ सामने कही नगा पर्वत-श्रेणी है। वनवासी वीर नगा जातियों से अहोम राजाओं की कभी नही बनी—वे अपने पर्वतों के नंगे राजा थे, ये अपनी समतल भूमि के कौशेय पहन कर भी अधनंगे रहने वाले महाराजा, पीढियों के युद्ध के बाद दोनो ने अपनी-अपनी सीमाएँ बाँध ली थी और कोई किसी से छेड-छाड नहीं करता था—केवल सीमा-प्रदेश पर पड़ने वाले नमक की झीलों के लिए युद्ध होता था क्योंकि नमक दोनो को चाहिए था। पर अहोम राजद्रोही नगा जातियों के सरदार के पास आश्रय पाये—असह्य है ! असह्य !

पवन ने साँय-साँय कर के दाद दी···असह्य ! मानो चूलिक-फा के विवश क्रोध की लम्बी साँस सागर की देह को छू गयी—यही खड़े हो कर उस ने वह साँस खीची होगी—उस मेहराब ही की ईंट-ईंट मे तो उस के सुलगते वायु-कण बसे होगे ?

लेकिन जायेगा कहाँ ! उस की वधू तो है ? वह जानेगी उस का पति कहाँ है उसे जानना होगा ! जयमती अहोम राज्य की अद्वितीय सुन्दरी—जनता की लाड़ली—होने दो ! चूलिक-फा राजा है, वह शत्रु-विहीन निष्कण्टक राज्य करना चाहता है ! जयमती को पति का पता देना होगा—उसे पकडवाना होगा—चूलिक-फा उस का प्राण नही चाहता, केवल एक कान चाहता है, या एक छिगुनी—चाहे बायें हाथ की भी छिगुनी ! क्यो नही बतायेगी जयमती ? वह प्रजा है, प्रजा की हड्डी-बोटी पर भी राजा का अधिकार है !

बहुत ही छोटे एक क्षण के लिए चाँद झलक गया। सागर ने देखा,

सामने खुला, आकारहीन, दिशाहीन, मानातीत निरा विस्तार, जिस में नरन्लो की सायँ-सायँ, हवा का असख्य कराहटो के साथ रोना, उसे घेरे हुए मेहरावो की क्रुद्ध साँपो की-सी फुफकार···चाँद छिप गया और पानी की नयी बौछार के साथ सागर ने आँखे बन्द कर ली···असंख्य सहमी हुई कराहे, और पानी की मार ऐसे जैसे नंगे चूतड़ो पर स-दिया प्रान्त के लचीन्दे बेतो की सड़ाक्-सडाक्। स-दिया अर्थात् शव-दिया; कब किस का शव वहाँ मिलता था याद नही आता, पर था शव ज़रूर—किस का शव ·

नही, जयमती का नही। वह तो—वह तो उन पाँच लाख बेबस देखने वालो के सामने एक लकडी के मंच पर खड़ी है, अपनी ही अस्पृश्य लज्जा मे, अभेद्य मौन मे, अटूट संकल्प और दुर्दमनीय स्पर्द्धा मे लिपटी हुई, सात दिन की भूखी-प्यासी, घाम और रक्त की कीच से लथपथ, लेकिन शेषनाग के माथे मे ठुकी हुई कीली की भाँति अडिग, आकाश को छूने वाली प्रात.शिखा-सी निष्कम्प···

लेकिन यह क्या ? सागर तिलमिला कर उठ बैठा। मानो अँधेरे मे भुनही-सी दीख पड़नेवाली वह लाखो की भीड भी काँप कर फिर जड़ हो गयी—जयमती के गले मे एक वडी तीखी करुण चीख निकल कर भारी वायु-मंडल को भेद गयी—जैसे किसी थुलथुल कछुए के पेट को मछेरे की बर्छी·· सागर ने बड़े जोर से मुट्ठियाँ भीच ली···क्या जयमती टूट गयी ? नही, यह नही हो सकता, नरसलो की तरह बिना रीढ़ के गिरती-पडती इस लाख जनता के बीच वही तो देवदारु-सी तनी खड़ी है, मानवता की ज्योति:शलाका··

सहसा उस के पीछे से एक दृप्त, रुखी, अवज्ञा-भरी हँसी से पीतल की तरह झनझनाते स्वर ने कहा, "मै राजा हूँ !"

सागर ने चौंक कर मुड कर देखा—सुनहला रेशमी वस्त्र, रेशमी उत्तरीय, सोने की कंठी और बड़े-बड़े अनगढ पन्नो की माला पहने भी अधनगा एक व्यक्ति उस की ओर ऐसी दया-भरी अवज्ञा से देख रहा था, जैसे कोई राह-किनारे के कृमि-कीट को देखे। उस का सुगठित शरीर, छेनी से तराशी हुई चिकनी मास-पेशियाँ, दर्प-स्फीत नासाएँ, तेल से

चमक रही थी, आँखो की कोर मे लाली थी जो अपनी अलग बात कहती थी—मैं मद भी हो सकती हूँ, गर्व भी, विलास-लोलुपता भी, और निरी नृशंस नर-रक्त-पिपासा भी···

सागर टुकुर-टुकुर देखता रह गया। न उठ सका, न हिल सका। वह व्यक्ति फिर बोला, "जयमती ? हुँः, जयमती !" अँगूठे और तर्जनी की चुटकी बना कर उसने झटक दी, मानो हाथ का मैल कोई मसल कर फेंक दे। बिना क्रिया के भी वाक्य सार्थक होता है, कम-से-कम राजा का वाक्य···

सागर ने कहना चाहा, 'नृशंस ! राक्षस !' लेकिन उस की आँखो की लाली मे एक बाध्य करनेवाली प्रेरणा थी, सागर ने उस की दृष्टि का अनुसरण करते हुए देखा, जयमती सचमुच लड़खड़ा गयी थी। चीखने के बाद उस का शरीर ढीला हो कर लटक गया था, कोड़ो की मार रुक गयी थी, जनता साँस रोके सुन रही थी···

सागर ने भी साँस रोक ली। तब मानो स्तब्धता में उसे अधिक स्पष्ट दीखने लगा, जयमती के सामने एक नगा बाँका खड़ा था, सिर पर कलगी, गले मे लकडी के मुडो की माला, मुँह पर रंग की व्याघ्रोपम रेखाएँ, कमर मे घास की चटाई की कौपीन, हाथ मे बर्छी। और वह जयमती से कुछ कह रहा था।

सागर के पीछे एक दर्प-स्फीत स्वर फिर बोला, "चूलिक-फा के विधान मे हस्तक्षेप करनेवाला यह ढीठ नगा कौन है ?" पर सहसा उस नंगे व्यक्ति का स्वर सुनायी पड़ने लगा और सब चुप हो गये···

"जयमती, तुम्हारा साहस धन्य है। जनता तुम्हे देवी मानती है। पर और अपमान क्यो सहो ? राजा का बल अपार है—कुमार का पता बता दो और मुक्ति पाओ !"

अब की बार रानी चीखी नही। शिथिल-शरीर, फिर एक बार कराह कर रह गयी।

नगा वीर फिर बोला, "चूलिक-फा केवल अपनी रक्षा चाहता है, कुमार के प्राण नही। एक कान दे देने में क्या है ? या छिगुनी ? उतना तो कभी खेल मे या मल्ल-युद्ध मे भी जा सकता है।"

नगा ने कहा, "प्रजा तो राजा चूलिक-फा की है न ?"

रानी ने फिर उसे स्थिर दृष्टि से देखा। फिर धीरे-धीरे कहा, "चूलिक—" और फिर कुछ ऐसे भाव से अधूरा छोड दिया कि उस के उच्चारण से मुँह दूषित हो जायेगा। फिर कहा, "यह प्रजा कुमार की है—जा कर नगा सरदार मे कहना कि कुमार—" वह फिर रुक गयी। "पर तू—तू तो नगा नही, तू तो उस—गिद्ध की प्रजा है—जा, उस के गन्दे पजे को चाट !

रानी की आँखे चूलिक-फा की ओर मुडी, पर उस की दीठ ने उसे छुआ नही, जैसे किसी गिलगिली चीज की ओर आँखें चढाने मे भी घिन आती है···

नगा ने मुसकरा कर कहा, "कहाँ है मेरा राजा !"

चूलिक-फा ने वही से पुकार कर कहा, "मै यह हूँ—अहोम राज्य का एकछत्र शासक !"

नगा युवक सहसा उस के पास चला आया।

सागर ने देखा, भीड का रग वदल गया है। वैसा ही अन्धकार, वैसा ही अथाह प्रसार, पर उस मे जैसे कही व्यवस्था, भीड मे जगह-जगह नगा दर्शक विखरे, पर विखरेपन मे भी एक माप···

नगा ने पास से कहा, "मेरे राजा !"

एकाएक वडे जोर की गडगडाहट हुई। सागर खडा हो गया ··उस ने आँखे फाड कर देखा, नगा युवक सरसा वर्छी के सहारे कई-एक सीढियाँ फाँद कर चूलिका-फा के पास पहुँच गया है, वर्छी सीढी की ईंटो की दरार मे फँसी रह गयी है, पर नगा चूलिका-फा को धक्के से गिरा कर उस की छाती पर चढ गया है, उधर जनता मे एक विजली कडक गयी है, "कुमार की जय !" किसी ने फाँद कर मच पर चढ कर कोडा लिये जल्लादो को गिरा दिया है, किसी ने अपना अंग-वस्त्र जयमती पर डाला है और कोई उस के वन्धन की रस्सी टटोल रहा है···

पर चूलिक-फा और नगा···सागर मन्त्र-मुग्ध-सा खडा था, उस की दीठ चूलिका-फा पर जमी थी···सहसा उसने देखा, नगा तो निहत्था है, पर नीचे पडे चूलिक-फा के हाथ मे एक चन्द्राकार डाओ है जो वह नगा

के कान के पीछे साध रहा है—नगा को ध्यान नही है, मगर चूलिक-फा की आँखो में पहचान है कि नगा और कोई नही, स्वयं कुमार है, और वह डाओ साध रहा है···

कुमार छाती पर है, पर मर जायेगा···या क्षत भी हो गया तो··· चूलिक-फा ही मर गया तो भी अगर कुमार क्षत हो गया तो—सागर उछला। वह चूलिक-फा का हाथ पकड़ लेगा—डाओ छीन लेगा।

पर वह असावधानी से उछला था, उस का कीचड़-सना बूट सीढी पर फिसल गया और वह लुढकता-पुढकता नीचे जा गिरा।

अव ? चूलिक-फा का हाथ सध गया है, डाओ पर उस की पकड़ कडी हो गयी है, अब—

लेफ्टिनेण्ट सागर ने वही पड़े-पड़े कमर से रिवाल्वर खीचा और शिस्त लेकर दाग दिया—धाँय !

धुआँ हो गया। हटेगा तो दीखेगा—पर धुआँ हटता क्यो नही ? आग लग गयी—रंग-महल जल रहा है, लपटे इधर-उधर दौड रही है। क्या चूलिक-फा जल गया ?—और कुमार—क्या यह कुमार की जयध्वनि है ? कि जयमती की—यह अद्‌भुत, रोमांचकारी गूँज, जिस मे मानो वह डूबा जा रहा है, डूबा जा रहा है—नही, उसे सँभलना होगा।

लेफ्टिनेट सागर सहसा जाग कर उठ बैठा। एक बार हक्का-बक्का हो कर चारो ओर देखा, फिर उस की बिखरी चेतना केन्द्रित हो गयी। दूर से दो ट्रको की दो जोडी बत्तियाँ पूरे प्रकाश से जगमगा रही थी, और एक सर्च-लाइट इधर-उधर भटकती हुई रंग-महल की सीढियो को क्षण-क्षण ऐसे चमका देती थी मानो बादलो से पृथ्वी तक किसी वज्र-देवता के उतरने का मार्ग खुल जाता है। दोनो ट्रको के हॉर्न पूरे जोर से बजाये जा रहे थे।

बौछार से भीगा हुआ बदन झाड़ कर लेफ़्टिनेट सागर उठ खडा हुआ। क्या वह रंग-महल की सीढियो पर सो गया था ? एक बार आँखे दौड़ा कर उसने मेहराब को देखा, चाँद निकल आया था, मेहराब की ईंटे दीख रही थी। फिर वह धीरे-धीरे उतरने लगा।

नीचे से आवाज आयी, "सा'ब, दूसरा गाडी आ गया, ढो कर के ले जायेगा !"

सागर ने मुँह उठा कर सामने देखा, और देखता ही रह गया। दूर भागते बादलों के बीच काँपता हुआ, मानो शुभ्र चाँदनी से ढका हुआ हिंडोला—क्या एक रानी के अभिमान का प्रतीक, जिस ने राजा को बचाया, या एक नारी के साहस का, जिस ने पुरुष का पथ-प्रदर्शन किया, या कि मानव मात्र की अदम्य स्वातन्त्र्य-प्रेरणा का अभीत, अजेय, जय-दोल !

